चरित्र-निर्माण का आधार-
ब्रह्मचर्य आश्रम

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमारे पूर्वजों ने मनुष्य मात्र के हितार्थ चतुविधि आश्रमों की स्थापनाा की। उनमें से पहला आश्रम ब्रह्मचर्य आश्रम, उसके बाद गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम बतलाये गये हैं। इन सभी आश्रमों के नियम अलग-अलग प्रकार के हैं। हमारे विचार में जो मनुष्य आश्रम-धर्मों का विधि-विधानपूर्वक पालन करता है वह अवश्य ही पूर्ण योगयुक्त हो जाया करता है। कभी-कभी एकान्त में बैठ करके जब हम चिन्तन करते हैं तो अपने पूर्वजों की दूरदर्शिता पर मन में बहुत ही आह्लाद होने लगता है। हमारे इन महापुरुषों ने अपनी सन्तान के भले के लिए कितने ऊँचे साधन लिखकर रख दिये हैं। जिस समय संसार के अन्दर कोई बच्चा जन्म लेता है तो वह अपने मन के अन्दर सभी प्रकार की शक्तियों का समूह लेकर आया करता है। यह दूसरी बात है कि इस संसार में जन्म लेने पर उसको अपने विकास के लिए उपयुक्त साधन मिलें या न मिलें। यदि हमारी शास्त्रीय पद्धति के अनुसार जन्म लेने वाले बालक को उत्कृष्टता की ओर ले जाने की भावना उसके माता-पिता के मन में पूर्णरूपेण बन जाती हैं तो बालक का जीवन गर्भावस्था से ही बनना प्रारम्भ हो जाता है। सबसे पहली आवश्यकता यह है कि बालक के गर्भ में प्राप्त हो जाने के बाद उसकी माता को यज्ञ का शेषान्न खिलाया जाये जिससे बालक के मन में पवित्रता का वास होता चला जाय। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि— **'यथा अन्नं तथा मन्नः।'** अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार का अन्न सेवन करता है वैसा ही उसका मन बन जाया करता है। बालक के निर्माण की आधार भित्ति सबसे प्रथम जन्म देने वाली उसकी माँ ही है। जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है-

मातृवान् पितृवानाचार्यवान् पुरुषो वेद।

अर्थात् माता वाला, पिता वाला और गुरु वाला परमात्मा तक पहुँच सकता है। अतः बालक के निर्माण की आधार भित्ति सबसे पहले माता है और बालक के गर्भ में प्राप्त हो जाने के बाद सबसे पहले माता के मन को ही उत्कृष्ट बनाना निहायत जरूरी हो जाता है। उसके मन में उत्तमोत्तम संस्कार बनाये रखना चाहिये। यदि हम यह चाहते हैं कि हमारा बच्चा ब्रह्मज्ञानी बने तो जिस समय उस बच्चे का गर्भवास-काल हो तब ही उसकी माता के मन के अन्दर ब्राह्मी धारणा वाले उत्तमोत्तम साधन जुटाने चाहिये। जैसे माता को योगियों के इतिहास सुनाना, योग सिद्धान्तों का मन में विकास करना, उपनिषदों की कथा सुनाना, इसके अतिरिक्त पुण्य स्थानों में ले जाना, ब्राह्मी बूटी एवं तुलसीपत्र आदि का बार-बार सेवन कराना, यज्ञ आदि के शुभ दृश्य दिखलाना तथा नित्य प्रति यज्ञ के शेषान्न का खिलाना एवं पुष्टिकर पाक जिसमें ब्राह्मी बूटी एवं बादाम आदि का मिश्रण हो। इन दिव्य औषधियों के मिश्रण से युक्त पाक को नियम से नित्य सेवन कराना चाहिए जिसमें इस प्रकार की औषधियों का सम्मिश्रण भी किया गया हो कि जिनसे उसका परिपाक भी जल्दी हो जाये। साथ ही वह बिल्कुल सात्विक भी हो। भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में सात्विक आहार का लक्षण निम्न प्रकार से लिखा है—

आयुः सत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।

अर्थात् जो आहार आयु की वृद्धि करने वाले हैं, सतोगुण के बढ़ाने वाले हैं, सुख और प्रेम की उत्पत्ति के कारण हैं, हृदय पुष्टि करने वाले, रस के दाता और चिकने हैं ये सब आहार सात्विक कहलाते हैं। शिशु के गर्भवास काल में माताओं को अवश्य ही शुद्ध सात्विक एवं पवित्र आहार ही करना चाहिए। क्योंकि माता के मन के साथ ही बालक के मन का भी निर्माण होता है। गर्भाधान काल में यदि पिता का मन उज्ज्वल है और वह योग ध्यान-परायण है और पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए मन सांसारिक लिप्सा से शून्य है, और अपने बालक को उत्तम बनाने के लिये यज्ञ, व्रत और तप आदि किए हुये हैं तब उसका बालक भी ओज तेज को धारण करने वाला अवश्य ही होगा। इसके साथ-साथ माता को इस लेख में ऊपर लिखी बातों का पूर्णरूपेण पालन करना चाहिए। गर्भाधान के बाद यदि माता का मन पूर्णरूपेण उज्ज्वल है तो बालक का मन भी उज्ज्वल एवं तेजस्वी बनेगा। आजकल के समय में गर्भवती स्त्री के मनोरंजन के लिए उनको खूब रसिकता के दृश्य खिलाये जाते हैं सिनेमा आदि को दिखा-दिखा कर माताओं के मनों में खूब रसिकता भर दी जाती है जिसके फलस्वरूप भावी जन्म धारण करने वाले शिशु में रसिकता के भावों का आ जाना बिल्कुल स्वाभाविक हो जाता है। इसलिए हमारी सबसे पहली शास्त्रीय शिक्षा है कि— **'मातृवान् पुरुषो वेद।'** माँ अपने बच्चे के अन्दर जिस प्रकार के संस्कारों को भर देगी उसके मन में वे ही संस्कार पुष्टि पाते रहेंगे। क्योंकि उस समय बच्चे का मन माता के मन के अन्दर मिला रहता है। यदि माँ-बाप चाहें तो अपने बालक को गर्भकाल में ही पूर्ण विद्वान, ओज-तेजयुक्त, ब्रह्मचारी एवं सर्व गुण सम्पन्न बना सकते हैं।

इस विषय में हमारे भारतीय इतिहास के अन्दर कितने ही उज्ज्वल प्रमाण मिलते हैं। महाभारत में कथानक मिलता है कि जिस समय अभिमन्यु अपनी माता सुभद्रा के गर्भ में था उस समय अर्जुन ने अपनी पत्नी सुभद्रा को विविध प्रकार की सद्शिक्षायें दी और दिलायीं। चक्रव्यूह की रचना और उसके भेदन के उपाय बतलाये। चक्रव्यूह में प्रवेश करने का उपाय बतलाया किन्तु चक्रव्यूह के भेदन के बाद जिस समय उसमें से निकलने के उपायों का अर्जुन वर्णन कर रहे थे उस समय सुभद्रा को नींद आ गई और वह उस विषय को भली प्रकार नहीं समझ सकीं। इसका परिणाम यह हुआ कि महाभारत की लड़ाई में चक्रव्यूह का भेदन तो केवल अर्जुन ही कर सकते थे दूसरा कोई वीर पाण्डव सेना के अन्दर चक्रव्यूह का भेदन करने वाला नहीं था। जब कोई भी वीर चक्रव्यूह भेदन के लिए तैयार नहीं हुआ और अर्जुन कौरवों के ललकारने पर दूसरी ओर लड़ाई के लिए चले गये थे उस समय अपने पिताजी अनुपस्थिति में अभिमन्यु ने चक्रव्यूह भेदन का, उपक्रम किया पर साथ ही उसने यह भी कह दिया कि- मैं चक्रव्यूह को तोड़ तो अवश्य दूँगा किन्तु उसमें से निकलने की विधि मुझे याद नहीं है। परिणाम भी ऐसा ही हुआ। जिस समय अभिमन्यु ने चक्रव्यूह भेदन के लिये लड़ाई में प्रवेश किया उस समय व्यूह को भेदन क्रिया को देख करके और अभिमन्यु के अपूर्व उत्साह को देख करके द्रोणाचार्य के मुख से यह शब्द निकल ही गये—

एषो गच्छति सौभद्रः
पार्थानां प्रथितो युवा।
नन्दयन सुहृदः सर्वान्
राजानश्च युधिष्ठिरम्।।

अर्थात् यह देखो यह अतुलित वीर परम योद्धा सुभद्रा पुत्र सौभद्र कितनी वीरता के साथ चला जा रहा है। इसकी वीरता को देख करके इसके मित्र कितने प्रसन्न हो रहे हैं और महाराजा युधिष्ठिर की मानस प्रसन्नता को यह कितना अधिक बढ़ा रहा है। आचार्य द्रोण को अभिमन्यु की वीरता एवं चक्र-भेदन क्रिया पर बड़ा ही आश्चर्य था कि यह इतनी ऊँची शिक्षा कहाँ से प्राप्तकर सका। किन्तु उनको बस बात का ज्ञान नहीं था कि अभिमन्यु की यह पढ़ाई माता के पेट में ही पढ़ा दो गई थी। अभिमन्यु ने अपने पिता अर्जुन के द्वारा जितनी शिक्षा माता के उदर में निवास करते हुए प्राप्त कर ली थी उस ही शिक्षा के आधार पर उसने चक्रव्यूह का भेदन तो कर दिया किन्तु उसमें से यह वापिस नहीं निकल पाया। यह था गर्भ की शिक्षा का प्रभाव। इसलिये यह बहुत ही आवश्यक है कि शिशु के चरित्र निर्माण के लिए उसकी माता का पहले से ही चरित्र-निर्माण उत्तम विधियों से कराया गया हो और उसको उत्तमोत्तम बुद्धिवर्धक रस पाक आदि खिलाये गये हों। तपस्वी ब्रह्मचारियों के इतिहास सुनाये गये हों। उसके सामने नित्य वेदपाठ एवं यज्ञादि कर्म-संस्कार कराये गये हों और शोड्ष संस्कारों के अन्दर गर्भाधान संस्कार एवं पुंसवन आदि संस्कार भी विधिपूर्वक कराये गये हों। उसके बाद जिस भी बालक का जन्म होगा वह अत्यन्त उज्ज्वल और ऊँचे संस्कारों को लेकर संसार में आयेगा। ख्याल रखना चाहिए कि किसी भी बालक के गर्भवास काल में गर्भणी माताओं के सामने किसी भी प्रकार के भयानक व मन को घृणित कर देने वाले प्रश्न उनके सामने नहीं लाने चाहिए। प्रत्युत उज्ज्वल ही संस्कार उनके मनों में भरना चाहिए और उस बालक के पैदा हो जाने के बाद माता अपने बच्चे को जिस प्रकार की बातें सुनायेगी व शिक्षा देगी उसी प्रकार बच्चे का मन भी बनता चला जायेगा। इस विषय में मदालसा का इतिहास प्रख्यात ही है। उसने अपने बच्चे को शिक्षा दी थी कि

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि, निरंजनोऽसि
संसार माया परिवर्जितोसि।

इस शिक्षा का परिणाम यह निकला कि मदालसा ने अपने बालक को परम विरक्त एवं तेजस्वी बना दिया। इसलिए हमारे आचार्यों ने सर्व प्रथम मातृवान् वाक्य का उल्लेख किया है। माता की शिक्षा के बाद बालक ज्योंही कुछ बढ़ने लगता है उस समय पिता की शिक्षा की भी बड़ी आवश्यकता रहती है। पिता अपने बच्चे को कुसंग से बचाकर सत्संग की शिक्षा देता है और दिलाता है तथा सभी प्रकार के कुत्सित वर्ग से बचाकर रखता है। उसके मन को वासना के गर्त से बचाकर रखता है तो समझ लेना चाहिए कि उस बाप ने अपने बच्चे को पूर्णयोगी बना दिया है। आजकल का समय हमारे प्राचीन ऋषि सिद्धान्तों के बिल्कुल ही विपरीत चल रहा है। चाय की बीमारी तो इतनी ज्यादा चल गई है कि माता-पिता अपने दुध मुँह बच्चे को भी प्रारंभ से ही चाय पिलाना सिखला देते हैं एवं राजस, तामस आहार उनको खिलाना आरम्भ कर देते हैं। रजोगुण और तमोगुण के आहारों का वर्णन भी भगवान् श्रीकृष्ण ने निम्नांकित प्रकार से कर दिया है—

कट्वम्ललवणात्युष्ण-
तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा
दुःखशोकामयप्रदाः।।
यातयामं गतरसं पूति
पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं
भोजनं तामसप्रियम्।।

अर्थात् कडुए, खट्टे, अधिक नमकीन, बहुत गर्म और मिर्च आदि तीखे और रूखे मसाले हृदय में जलन पैदा करने वाले चटपटे पदार्थ यह सभी इस प्रकार के भोजन रजोगुण प्रधान व्यक्तियों को प्यारे लगते हैं और इनके खाने से रजोगुण की ही वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त सड़े गले, पुराने बासी भोजन और उच्छिष्ट आहार एवं अमेद्य अर्थात् जो बुद्धि की हीनता करने वाले हैं ऐसे भोजन तामस लोगों को प्यारे होते हैं। और ऐसे भोजनों के खाने से मन में तमोगुण की ही वृद्धि भी होती है। इसलिए

साधक को चाहिए कि वह अपने आहार को शुद्ध एवं सात्विक रखे। क्योंकि— **''आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः''** और **''सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृति''** अर्थात् आहार के शुद्ध हो जाने के बाद अपने आप ही अन्त:करण शुद्ध होता चला जाता है और अन्त:करण शुद्ध हो जाने के बाद स्मृत्युत्थान हो जाता है। और स्मृत्युत्थान के बाद बिना ही किसी प्रयास के समाधि सिद्ध होने लगती है। इसलिए योगी के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि वह अपने आहार-विहार को बिल्कुल शुद्ध रखे। तभी वह समाधि द्वार तक पहुँच सकता है। अत: माता-पिता अपने बच्चों के लिये इस प्रकार के राजस, तामस आहारों से बचा करके सत्व-शुद्धि के लिए सात्विक आहार करायें यह अत्यावश्यक है। इसके बाद तीसरी श्रेणी रह जाती है—

आचार्यवान् पुरुषो वेद।

अर्थात् गुरु वाला परमात्मा को पा जाता है। गुरु शब्द की व्याख्या योगदर्शन में भगवान् पतञ्जलिदेव ने बहुत ऊँचे शब्दों में की है–

पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्।

अर्थात् काल के अधिकार से परे होने के कारण वह परमात्मा पहले गुरु कपिलादिकों का भी गुरु है। क्योंकि—

पूर्वे हि गुरुव: कालेनावच्छेद्यन्ते, यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादिष्व पिप्रत्येतव्यः।

अर्थात् पहले कपिलादिक जो गुरु हैं वे सब के सब काल की अवधि वाले थे किन्तु वह ईश्वर जो काल का अवधि से परे हैं एवं प्रकर्षगति से अनन्त काल से ही सिद्ध है वह परम गुरु कहलाता है। सही रूप से विचार करके देखा जाये तो गुरु शब्द का यथार्थ अर्थ तो यही है कि जो सत्ता काल के अधिकार से परे की सत्ता है वही सद्गुरु सत्ता है। जिन योगियों ने अपनी तीव्रतम् उत्कृष्ट साधना प्रारम्भ करके अपने आपको ब्रह्म विलीन कर लिया है वे लोग गुरु पद वाच्य हैं। उनके द्वारा दी हुई शिक्षा साधक को परम लक्ष्य की प्राप्ति कराने होती है, किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले ब्रह्मचारियों को यह एक आवश्यक आदेश है कि—

स: गुरुमेवापि गच्छेत् श्रोतियं ब्रह्मनिष्ठं।

अर्थात् उपनीत ब्रह्मचारी ऐसे गुरु की शरण ग्रहण करे जो पूर्ण विद्वान वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता एवं ब्रह्मनिष्ठ हों और इसके अतिरिक्त यदि उनने पूर्णतया योगाभ्यास करके ब्रह्मैक्य पूर्णता प्राप्त कर ली है तो बहुत ही उत्तम बात है। यह बात सोने पर सुहागे वाली बात है। ऐसे गुरु की शरण में जाने वाला एक अबोध बालक जिसको माता पिता के पूर्ण सहयोग से वासना का ज्ञान तक नहीं हो पाया है ऐसा वह बालक गुरुकुल वास का यथार्थ अधिकारी है। गुरुकुल में निवास करने वाले ब्रह्मचारी पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत का पालनन करते हुए साङ्गोपांग वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन कर अपने आपको उत्कृष्ट उच्चकोटि के विद्वान बना लेगे और उसके साथ-साथ अपने नियमानुसार नैत्यिक व्यायाम करते हुए अपने शारीरिक स्वास्थ को बहुत ही उत्कृष्टता की ओर ले जायेंगे। इसमें भी यदि उनको प्राणायाम आदि की यथार्थ शिक्षा मिलती है तो प्रकाशावरणक्षय को प्राप्त हो जायेंगे। क्योंकि योगदर्शन में भगवान् पतञ्जलिदेव ने— **'तत: क्षीयते प्रकाशावर्ण'** कहकर प्राणायाम का यह फल बतलाया है कि जो योगी बराबर ब्रह्मचर्यपूर्वक नियम से प्राणायाम आदि का अभ्यास करते हैं अर्थात् योगी के रास्ते में जो अज्ञान अन्धकार है वह प्राणायाम के अभ्यास से दिन-दिन क्षीण होता चला जाता है और योगी पूर्णरूपेण आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त कर लेता है। तथा उस योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा के तप के बल से पूर्णरूपेण यथार्थता का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् उस योगी के अन्दर सर्वज्ञातित्व शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है क्योंकि यह शास्त्रीय नियम है कि—

दह्यन्ते ध्मायमानानां
धातूनां हि यथा मला:।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते
दोषा: प्राणस्य निग्रहात्।।

अर्थात् जिस प्रकार सोने, चांदी आदि धातुओं को तपाने से वह निर्मल और शुद्ध हो जाया करती हैं, इसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के मल जल जाते हैं। इसी बात की पुष्टि भगवान पतञ्जलिदेव योगदर्शन में इस प्रकार करते हैं—

प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते:।

अर्थात् प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास करने से अनवरत अशुद्धि का नाश हो जाता है और जब तक वह योगी पूर्णरूपेण विवेक ज्ञान को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक उत्तरोत्तर ज्ञान का प्रकाश बढ़ता रहता है। जब तक वह योगी विवेक ज्ञान की पराकाष्ठा को नहीं पा जाता तब तक उसके ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती ही रहती है। और समय आता है ऐसा ब्रह्मचारी जिसने ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर ऊर्ध्वरेतस्तता को प्राप्त कर लिया है वह इसी ब्रह्मचर्य आश्रम में उच्चकोटि का पूर्ण विद्वान एवं सर्व सामर्थ्यवान् योगी बन जाता है। ब्रह्मचारियो के गुरुकुल आवासा काल में उनके संरक्षक इतने आदर्श एवं चरित्रवान् व्यक्ति होने चाहिए जो अपने ब्रह्मचारियों के पास वासना की गन्ध भी न आने दें। क्योंकि हमारा शास्त्रीय नियम है कि—

आचार्य हीनं न पुनन्ति वेदा:।

आचार्यहीन व्यक्ति को वेद ज्ञान भी पवित्र नहीं कर सकता। इसलिये मनुष्यमात्र का आचार्यवान् होना बहुत ही जरूरी है हमारा शास्त्रीय आदेश है कि—

आचार: परमो धर्म:
श्रृत्युयुक्त: स्मात्तं एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो
नित्यं स्यादात्मवान् द्विज:।

आचाराद्विच्युतो विप्रो
न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः
सम्पूर्णफलभाग्यवेत्।।

अर्थात् मनुष्य के पालनीय धर्मों के अन्दर वेद-शास्त्रों का बताया हुआ सबसे प्रथम आचार ही परम धर्म है। आचार का पालन करने वाला व्यक्ति आत्मवान् हो जाता है। आचार से गिरा हुआ ब्राह्मण वेद-ज्ञान के फल को नहीं पा सकता, और आचारवान् व्यक्ति सम्पूर्ण उत्तम फलों को प्राप्त कर लेता है। इसलिए आजकल के जमाने में आचारहीन व्यक्ति चाहे भले ही बी.ए., एम.ए. एवं शास्त्रीय आचार्य की डिग्री उपलब्ध कर ले किन्तु येन केन प्रकारेण डिग्रियां प्राप्त करने वाले वे व्यक्ति कुछ भी नहीं होते, न ही उनके अन्दर किसी भी प्रकार का बौद्धेय विकास हो पाता है। मनुस्मृति में ब्रह्मचारियों के लिए कुछ वर्जनीय बातें लिखी हैं जिनका हम निम्नांकित दो तीन श्लोकों में संकेत कर देते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले ब्रह्मचारियों को इनका अवश्य ही पालन करना चाहिये—

वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं
माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि
प्राणिनां चैव हिंसनम्।।
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्षणोरु-
पानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं
च नर्त्तनं गीतवादनम्।।
द्यूतं च जनवादं च
परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भ-
मुपघातं परस्य च।।
एकः शयीत् सर्वत्र च
रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयत्रेतो
हिनस्ति व्रतमात्मनः।।

अर्थात् ब्रह्मचर्यव्रत के धारण करने वाले व्यक्तियों को इन निम्नलिखित सभी वस्तुओं का परित्याग रखना चाहिए। जैसे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मास गन्ध, माला, रस स्त्री और पुरुष का सङ्ग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा, अङ्गों का मर्दन, बिना निमित्त अस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आँखों में अंजल, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, लय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष और नाच गाना बजाना। छूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्या-भाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें। सर्वत्र एकाकी सोवे, वीर्यस्खलित कभी न करें, जो कामना से वीर्य-स्खलित कर दे तो जानो कि उसने अपने ब्रह्मचर्य-व्रत का नाश कर दिया। आदि-आदि नियमों का पालन अवश्य ही करना चाहिए। वैसे गुरुकुल में निवास करने वाले ब्रह्मचारियों पर वहाँ के आदर्श संरक्षकों का संरक्षण इन सब बातों को होने ही नहीं देगा। हमने इस प्रकार के आदर्श ब्रह्मचर्य-व्रत करने वाले ऐसे ब्रह्मचारियों को देखा है जिनका पोषण आदर्श संरक्षकों के अधीन रहता था। जिसका परिणाम यह हुआ कि मधुमांस, तेलाभ्यंग, रस, स्त्रियाँ, गन्धमाल्य आदि का सेवन करना तो दूर रहा उनको वस्त्र भी कटि-वस्त्र के रूप में टाट व खादी आदि के पहनाये जाते थे। एक बार एक गाँव में हमें एक महात्मा मिले। जिनके साथ में चार ब्रह्मचारी थे। उनके मुख-मण्डल देदीप्यमान थे। वे लोग प्राणायामी और पूर्ण अभ्यासी मोटे, वस्त्र खादी के कटि पर धारण किये थे। संस्कृत बोलने का इतना ऊँचा अभ्यास था कई एक ऊँचे-ऊँचे विद्वान भी व्याकरण के आचार्य उनके सामने संस्कृत में बातचीत नहीं कर सकते। हमने उनके संरक्षक महात्मा से बातचीत की और पूछा कि इनका खान-पान क्या है। सोना, उठना-बैठना कैसा है। दिनचर्या और रात्रिचर्या कैसी है। उनके संरक्षक महात्मा ने उत्तर दिया कि महाराज हमारा आश्रम जंगल में है। ये लोग साग-पात एंव गेहूँ का दलिया आदि मोटा अन्न सेवन करते हैं और गौओं के दूध को पिया करते हैं। हमारे यहाँ गौ-शाला है। वहाँ हम अच्छी-अच्छी गायें रखते हैं। उसी से इन लोगों की पुष्टि होती रहती है और इनके ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन पूरे-पूरे संरक्षण में कराया जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम सभी आश्रमों की आधार भित्ति है। प्रथम एक युवक पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करता है तो उसके शरीर में वीर्य परिपूर्ण रूप से व्यापक हो जाया करता है और नैत्यिक योगासानों का व्यायाम करने से उसका वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता है। ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ—

ब्रह्माणि चरतुं शीलमस्यास्तीत ब्रह्मचारी।

अर्थात् ब्रह्म के अन्दर विचरने वाली जिसकी आदत पड़ गई है वह ब्रह्मचारी कहलाता है और शास्त्रों में वीर्य को भी ब्रह्म माना है। भगवान शिव ने शिव-संहिता में—

अहं बिंदु रजः शक्तिः।

अपने आपको बिन्दु स्वीकार किया है और रज को शक्ति माना है, इसके अतिरिक्त और भी स्थान-स्थान पर वीर्य को ब्रह्म रूप से वर्णन किया है। अतः जब तक ब्रह्म-रूप वीर्य शरीर में व्यापक होकर नहीं रहेगा तब तक मनुष्य योगाभ्यास का अधिकारी बनता ही नहीं, उसमें भी वह हठाभ्यास से कोसों दूर रहता है। यदि कोई विलासी व्यक्ति अपने आपको हठयोगी बनाना चाहता है तो उसका वह प्रयास इसी प्रकार का प्रयास है जैसे कोई बालक हाथ से चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है। अतः योगासन करने वालो व्यक्ति के लिये यदि कोई आसनों के उच्चतम् परिणाम को देखना चाहता है तो उसके लिए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना भी बहुत

हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें। सर्वत्र एकाकी सोवे, वीर्यस्खलित कभी न करें, जो कामना से वीर्य-स्खलित कर दे तो जानो कि उसने अपने ब्रह्मचर्य-व्रत का नाश कर दिया। आदि-आदि नियमों का पालन अवश्य ही करना चाहिए। वैसे गुरुकुल में निवास करने वाले ब्रह्मचारियों पर वहाँ के आदर्श संरक्षकों का संरक्षण इन सब बातों को होने ही नहीं देगा। हमने इस प्रकार के आदर्श ब्रह्मचर्य-व्रत करने वाले ऐसे ब्रह्मचारियों को देखा है जिनका पोषण आदर्श संरक्षकों के अधीन रहता था। जिसका परिणाम यह हुआ कि मधुमांस, तेलाभ्यंग, रस, स्त्रियाँ, गन्धमाल्य आदि का सेवन करना तो दूर रहा उनको वस्त्र भी कटि-वस्त्र के रूप में टाट व खादी आदि के पहनाये जाते थे। एक बार एक गाँव में हमें एक महात्मा मिले। जिनके साथ में चार ब्रह्मचारी थे। उनके मुख-मण्डल देदीप्यमान थे। वे लोग प्राणायामी और पूर्ण अभ्यासी मोटे, वस्त्र खादी के कटि पर धारण किये थे। संस्कृत बोलने का इतना ऊँचा अभ्यास था कई एक ऊँचे-ऊँचे विद्वान भी व्याकरण के आचार्य उनके सामने संस्कृत में बातचीत नहीं कर सकते। हमने उनके संरक्षक महात्मा से बातचीत की और पूछा कि इनका खान-पान क्या है। सोना, उठना-बैठना कैसा है। दिनचर्या और रात्रिचर्या कैसी है। उनके संरक्षक महात्मा ने उत्तर दिया कि महाराज हमारा आश्रम जंगल में है। ये लोग साग-पात एंव गेहूँ का दलिया आदि मोटा अन्न सेवन करते हैं और गौओं के दूध को पिया करते हैं। हमारे यहाँ गौ-शाला है। वहाँ हम अच्छी-अच्छी गायें रखते हैं। उसी से इन लोगों की पुष्टि होती रहती है और इनके ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन पूरे-पूरे संरक्षण में कराया जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम सभी आश्रमों की आधार भित्ति है। प्रथम एक युवक पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करता है तो उसके शरीर में वीर्य परिपूर्ण रूप से व्यापक हो जाया करता है और नैत्यिक योगासानों का व्यायाम करने से उसका वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता है। ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ—

ब्रह्माणि चरतुं शीलमस्यास्तीत ब्रह्मचारी।

अर्थात् ब्रह्म के अन्दर विचरने वाली जिसकी आदत पड़ गई है वह ब्रह्मचारी कहलाता है और शास्त्रों में वीर्य को भी ब्रह्म माना है। भगवान शिव ने शिव-संहिता में—

अहं बिंदु रजः शक्तिः।

अपने आपको बिन्दु स्वीकार किया है और रज को शक्ति माना है, इसके अतिरिक्त और भी स्थान-स्थान पर वीर्य को ब्रह्म रूप से वर्णन किया है। अतः जब तक ब्रह्म-रूप वीर्य शरीर में व्यापक होकर नहीं रहेगा तब तक मनुष्य योगाभ्यास का अधिकारी बनता ही नहीं, उसमें भी वह हठाभ्यास से कोसों दूर रहता है। यदि कोई विलासी व्यक्ति अपने आपको हठयोगी बनाना चाहता है तो उसका वह प्रयास इसी प्रकार का प्रयास है जैसे कोई बालक हाथ से चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है। अतः योगासन करने वालो व्यक्ति के लिये यदि कोई आसनों के उच्चतम् परिणाम को देखना चाहता है तो उसके लिए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना भी बहुत ही अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य किसको कहते हैं उसके विषय में हमारे आचार्य लिखते हैं—

कर्मणा मनसा वाचा
सर्वावस्था सुसर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागी
ब्रह्मचर्य प्रचक्षते।।

अर्थात् सब अवस्थाओं में मन, वाणी और कर्म से सर्वथा मैथुन त्याग ही ब्रह्मचर्य है। मूत्राशय और मलाशय के ऊपर मणिपूरक में वीर्य का कोष रहता है। शरीर में व्यापक वीर्य इधर-उधर की कामुक तरंगों से द्रवित होकर वहां इकट्ठा हो जाता है और उस स्थान मे इकट्ठा होने पर वीर्य शरीर में पुनः व्यापक नहीं हो पाता और कामोद्रेकों से वह स्खलन की ओर ही जाता है। इस प्रकार के विचारों से वीर्य का कोष बार-बार खाली होता रहता है। अतः ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने वालों के लिये यह, परमावश्यक है कि वह वीर्य को शरीर में व्यापक करने के लिये कोई न कोई व्यायाम अवश्य करते रहें। किन्तु अन्य व्यायामों की अपेक्षा जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं यौगिक व्यायाम ही परमोत्कृष्ट है जिसके करने से शरीर की हर नाड़ी ठीक प्रकार से रसरक्त के वहन करने वाली बनती है। योगासनो के करने से सभी स्नायु सबल हो जाते हैं। छोटी-छोटी शिरायें भी अपने कार्य को ठीक करती हैं। यथोचित मात्रा में स्थान-स्थान पर रस-रक्त को पहुँचाती हैं। अतः योगासनों के द्वारा बहुत जल्दी वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता है। कुछ आसन तो इस प्रकार के हैं जिनके करने से वीर्य, वीर्यकोष की ओर न जाकर ऊर्ध्व गमन करता है। ऐसे ब्रह्मचारी कुछ दिन में ही ऊर्ध्वरेतस बन जाते हैं। भगवान् शिव ने शिव-संहिता में स्पष्ट कर दिया है—

सिद्धे बिंदौ महायत्ने
किन्न सिद्धयतिन्त भूतले।
ऊर्ध्वरेता भवेद्य स्मात्
तावत् काल भयं कुतः।।

अर्थात् प्रयत्न करके जो लोग बिंदु-जय करते हैं, वह संसार में सभी कार्य कर सकते हैं। जिन्होंने अपने आपको ऊर्ध्वरेतस बना लिया है, उनको कालभय उपस्थित नहीं होता। इसलिए योगासनों के अभ्यासी को ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना भी उसका आवश्यकीय कर्त्तव्य है। बहुत जगह पर इस प्रकार की घटनायें देखने में आती हैं, जिन्होंने भोग के साथ योग को चाहा, उन्होंने अनायास अपनी मृत्यु को बुला लिया। ब्रह्मचर्य-रहित विलासी व्यक्ति यदि योगासन का अभ्यास करते हैं तो—**''अकर्णात् कर्ण श्रेयः''** के नियमानुसार कुछ न कुछ तो ठीक होगा ही किन्तु उत्कृष्ट फल की प्राप्ति उसी हालत में हो सकती है कि वह सावधानी के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करें। ब्रह्मचारी के शरीर में व्यापक हुआ वीर्य उसको अतुल बल देता है। योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने स्पष्ट शब्दों के अन्दर लिख दिया है—

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

और इसका अर्थ करते हुए व्यास जी महाराज ने और भी ऊँचे शब्दों में ब्रह्मचर्य की प्रशंसा लिखी है—

यस्य लाभद् प्रतिघान
गुणानुत्कर्षयति।
सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञान-
माधातुसमर्थों भवतीति।।

अर्थात् ब्रह्मचारी अलौकिक गुणों को धारण करता है एवं सिद्ध हो जाने पर अपने शिष्यों में शक्तिपात करने की ताकत वाला हो जाता है। अत: जो लोग योगासन करते हुए और पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करेंगे उनके शरीर में अलौकिक गुणों का प्रकाश होना स्वाभाविक है। ब्रह्मचर्य-व्रत का यह अर्थ नहीं कि जंगलों में घूमने वाले साधु, जटा-जूट-धारी, जीवन भर शादी न करें तो वही ब्रह्मचारी कहलाने के अधिकारी हैं। यदि कोई जटा-जूटधारी व्यक्ति ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं करता है तो गृहस्थियों से बदतर हो सकता है और जो गृहस्थी अपने गृहस्थ धर्म को निभाता हुआ ऋतु कालानुगामी है और वह केवल मात्र सन्तानोत्पत्ति के लिये वीर्यधान करता है वह अवश्य ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता है। इसलिए यह नहीं समझना कि ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग घर बार त्यागी साधुओं के लिए ही किया गया है। प्रत्युत गृहस्थी भी स्वदारनिरत होकर सन्तानोत्पत्ति के लिए गृहस्थ उपभोग करते हुए अवश्य ब्रह्मचारी ही है और इस प्रकार के ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन का फल उनका शरीर उनको बतलाता ही रहेगा। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने के लिए एक विशेष—

प्राणायाम

प्रथम विधि— योगासन करने वाले साधक त्रिकोण आसन को भली प्रकार जानते हैं। पहले साधारण रूप से सीधे खड़े हो जायें फिर सहसा अपने प्राणों को नासिका रन्ध्रों से एकदम बाहर निकाल दें और निकाल देने पर नाभि के नीचे के भाग को जहाँ पर मलमूत्र विसर्जनी नाड़ियाँ रहती हैं- उस भाग को अपने दाहिने हाथ से बांयी ओर से दाहिनी ओर मल करके प्राण को बाहर रोके हुए ही बांयी ओर को घुटना झुकाकर त्रिकोण आसन की विधि से घुटना झुकाकर आसन कर लें और उसके बाद धीरे-धीरे प्राण को भीतर ले आयें किन्तु भीतर रोकने की आवश्यकता नहीं है, फिर प्राणों को समान गति से चलने दें, इसी प्रकार से फिर दूसरी बार पूरे प्राणकोष को बाहर निकाल कर नाभि के नीचे के भाग में फिर दाहिने हाथ से ऊपर की ओर मलकर प्राण को बाहर रोके हुए दाहिनी ओर का घुटना झुकाकर त्रिकोण आसन की विधि से आसन करें। जब तक प्राण बाहर रहे तब तक उस आसन को कायम रखें, और ज्योंही घबड़ाहट शुरू हो और प्राण भीतर जाने लगें तो आसन भी छोड़ दें, साथ-साथ यह धारणा करते रहें कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूँ। ऐसा करने से मूत्राशय और मलाशय के ऊपर रहने वाला वीर्य-कोष भी अवश्य ऊपर की ओर आकर्षित हो जायेगा और इस क्रिया को करने वाला व्यक्ति ऊर्ध्वरेतस हो जायेगा।

ऊर्ध्व-रेतस प्राणायाम की दूसरी विधि-

सिद्धासन में बैठ जाइये, सिद्धासन करने की विधि यह है— अपने बांय पैर की एड़ी को गुदा द्वार के आगे लिंग नाल के नीचे दृढ़ता से जमाकर रखें और दूसरे पैर की एड़ी को लिंग नाल के ऊपर रखें, वह एड़ियाँ इस प्रकार रख हुई हों जिनकी ग्रन्थि भाग (टाकनी) बिल्कुल समसूत्र रूप से मिले हुए हों इस प्रकार जमायें। नीचे की एड़ी को थोड़ा दृढ़ करके रखें। जहाँ यह एड़ी को थोड़ा दृढ़ करके रखें। जहाँ यह एड़ी रखी जाती है वहीं से वीर्य वाहिनी नाड़ी जाती है, इसके दबाव से वह नाड़ी दब जाती है और इस नाड़ी के दब जाने मन के वासनिक आकर्षण कम हो जाते हैं। इस प्रकार अपने पैरों को जमाकर और दोनों हाथों को घुटनों पर जमाकर समकाय शिरोग्रीव की विधि के अनुसार शरीर को समसूत्रता में रखकर सीधा बैठ जाय। ठोड़ी को थोड़ी सा झुकाकर छाती में लगाये, पेट भीतर की ओर खिंचा हुआ हो इसको सिंहासन कहा है। इस आसन से बैठकर ऊपर बतलाई विधि के अनुसार अपने सारे शरीर के प्राण को एकदम बाहर निकाल दें और उड्डयान बन्ध लगा लें। उड्डयान बन्ध के साथ साथ मूलद्वार का आकर्षण भी ऊपर की ओर स्वाभाविक हो जायेगा। प्राणों को बाहर की ओर रोके रखें। जिस समय प्राण बाहर रुका हुआ हो और उड्डयान बन्ध लगाकर मूलद्वार का ऊर्ध्वाकर्षण किया हुआ हो तो उस समय अपने मन में धारणा करें कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूँ, फिर उसके बाद जब घबड़ाहट हो तो प्राण को अन्दर ले आयें किन्तु अन्दर रोकें नहीं। इस प्रकार के तीन प्राणायाम रोज करने से वीर्य विकारों में बड़ा अनुपम लाभ होता है। और इसके साथ-साथ उपयुक्त खान-पान मिलता हो तो इन्हीं प्राणायामों को २०-२१ तक भी बढ़ाया जा सकता है किन्तु हर साधक को अधिक मात्रा में प्राणायाम नहीं करना चाहिये केवल मात्र वीर्य-विकार वाले रोगियों को रोग निवृत्ति के लिए दो या तीन प्राणायाम कर लेने चाहिए। ऐसा करने से उनको अवश्य-अवश्य अनुपम लाभ होगा।

इस प्रकार जो साधक ब्रह्मचर्य-व्रत का पूर्ण पालन कर लेता है उनका मन वासना से बिल्कुल शून्य हो जाता है और ब्रह्मचर्य आश्रम में ही सब प्रकार की पूर्णता को वे पा जाया करते हैं। ब्रह्मचर्य-व्रत की पूर्णता के लिए हमारे पूर्वजों ने तीन श्रेणियाँ निर्धारित की हैं। पहला ब्रह्मचर्यव्रत २५ वर्ष की अवस्था तक, दूसरा ३६ वर्ष तक और तीसरा ४८ वर्ष की अवस्था तक। इस प्रकार आजकल के कुत्सित समय के अन्दर यदि २५ वर्ष की अवस्था तक भी कोई पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर लेते हैं और यह ऊर्ध्व-रेसित प्राणायाम वाकायदा करते हैं तो उन्हें बिल्कुल भी वासना का बोध कभी मन के अन्दर नहीं होता। ऐसी स्थिति हो जाने के बाद यदि ऐसा ब्रह्मचारी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है तो भोग-वासना की प्रवृत्ति वह बिल्कुल नहीं करता, उसका लक्ष्य केवल मात्र सन्तानोत्पत्ति ही रहता है।

गृहस्थ आश्रम में भी उसका ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित नहीं होता। इसी बात को लक्ष्य में रख करके श्री मनु जी महाराज ने अपने मुखारविन्द से यह शब्द कह दिये हैं कि—

ऋतुकालाभिकामी गामिष्यात्
स्वदारनिरतः सदा।
ब्रह्मचारी एवं भवति।
यत्र-तत्र आश्रमे वसन्।।

अर्थात् जो केवल मात्र सन्तानोत्पत्ति के लक्ष्य से ही पत्नी के साथ सहगामी होते हैं, उस अवस्था में भी उनका ब्रह्मचर्य-व्रत कभी भी खण्डित नहीं होता। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर पूर्णरूपेण अपने चरित्र का निर्माण कर लेता है उसके लिए फिर पतन का समय नहीं होता। गृहस्थ आश्रम में कुछ दिन निवास करने के अन्दर थोड़ी बहुत जो कमी आ जाती है, वानप्रस्थ आश्रम में योगी उसकी पुनर्जाग्रति कर लेता है। इस प्रकार से ब्रह्मचर्य आश्रम में पूर्णरूपेण चरित्र निर्माण करके थोड़ा बहुत गृहस्थ व वानप्रस्थ के नियमों का पालन करता हुआ व्यक्ति संन्यास आश्रम में जा करके देश का एक बहुत बड़ा सुधारक एवं प्रचारक बन जाया करता है, क्योंकि वह शक्ति-सम्पन्न रहता है। अतः उसकी वाणी का प्रभाव दूसरों पर अधिकाधिक पड़ता है। साथ ही यह देश के सुधार का एक जीता-जागता उदाहरण बन जाया करता है। इसलिए ब्रह्मचर्य आश्रम ही मनुष्य के चरित्र निर्माण का एक आधार है इसको निर्वाह करने वाले व्यक्ति सब प्रकार से कृत-कृत्य हो जाया करते हैं।

सर्वे सन्तु सुखिनः।
सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मा कश्चिद्दुखभाग्यभवेत्।।

सृष्टि में क्रम तथा नियम-बद्धता का कारण

सृष्टि में सर्जन हो रहा है, विकास हो रहा है। गति हो रही है, वस्तु जैसी आज है वैसी कल नहीं रहती। परिवर्तन निरन्तर, हर क्षण होता रहता है। यह परिवर्तन, यह सर्जन, यह विकास जड़ प्रकृति का गुण नहीं है। यह कहीं से आता है। जड़ प्रकृति में, वृक्ष में, वनस्पति में, प्राणी जगत में, परिवर्तन सब जगह हो रहा है, हर वस्तु कार्य है बनी है। इस सर्जन विकास और परिवर्तन को लाने वाली कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए, उसी चेतन सत्ता को ईश्वर कहते हैं। इस विकास और परिवर्तन में हम यह भी देखते हैं कि इसमें नियम-बद्धता है सब कुछ एक नियम में बँधे से प्रतीत होते हैं। जहाँ नियम है वहाँ कोई नियामक भी होना चाहिए। जहाँ कर्म है वहाँ कर्ता भी होना चाहिए। सब जगह नियम काम करता है। अतः चेतन सत्ता को नियन्ता भी कहा जाता है।

— स्वामी सत्यदेव

सिद्धों की परिभाषा

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

वैय्याकरणों की व्युत्पत्ति के अनुसार सिद्ध-शब्द की परिभाषा निम्नाङ्कित शब्दों में की गई है—

कर्तुमकर्तुं अन्यथा कर्तुं शक्त: शैवसिद्ध:

अर्थात् जो सब कुछ करने की सामर्थ्य वाला हो और किसी काम के कर देने पर उसके मन में आये तो उसको फिर विपरीत कर दे और विपरीत कर देने पर भी उसकी मानसिक प्रसन्नता हो तो फिर उसे ही दुबारा पूर्ववत् कर डाले— उसको सिद्ध कहते हैं। इस बात को समझने के लिये तुलसीकृत रामायण में कागभुसुण्डि जी का एक उपाख्यान मिलता है। कागभुसुण्डि भगवान् शिव के एक मन्दिर में उनकी आराधना एवं तपश्चर्या करते थे। किन्तु उनके मन में भगवान् शिव एवं भगवान् नारायण के प्रति द्वैत बुद्धि बनी रहती थी। वह समझता था कि भगवान् सदाशिव परात्पर परब्रह्म हैं, उनसे बढ़कर कोई नहीं हैं, नारायण आदि सभी देवता उनके सेवक हैं। उसकी अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् शिव को परात्पर मानना तो बिल्कुल उचित ही था, क्योंकि साधक को चाहिये कि वह अपने इष्ट में सबसे ऊँची भावना ही रखें। कागभुसुण्डि के मन में यही भावना भरी हुई थी। शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

मन्नाथस्त्रि जगन्नाथमद्गुरु त्रिजगद्गुरु:

अर्थात् मेरे इष्टदेव संसार के इष्टदेव हैं और वे परात्पर हैं, उनसे बढ़कर कोई नहीं हैं और मेरे गुरुदेव त्रिलोकी से बढ़कर नहीं हैं शिव से बढ़कर कोई नहीं। वे ही तीनों लोकों के गुरु हैं। किन्तु दूसरे देवों के लिये ऐसी भावना रखना ठीक नहीं। कागभुसुण्डि भगवान् शिव के प्रति परात्पर परब्रह्म की भावना रखता ही था किन्तु उनके अलावा अन्य किसी की प्रशंसा का एक भी शब्द किसी से सुनना पसन्द नहीं करता था। उसके गुरुदेव यह चाहते थे कि मेरे इस बच्चे के अन्दर से यह छुद्र बुद्धि हट जाय, इसलिये वे बार-बार उपदेश करते थे और उससे कहा करते थे कि हे पुत्र! सुनो भगवान् विष्णु और भगवान् शिव दोनों एक ही वस्तु हैं। शास्त्र ने कहा है–

शिवस्य हृदयं विष्णु,
विष्णोर्हृदयं सदाशिव:।
ईष्दप्य अन्तरं ज्ञात्वा,
रोरवं नरकं ब्रजेत्।।

अर्थात् विष्णु का हृदय भगवान् शिव का हृदय है और शिव का हृदय भगवान् विष्णु का हृदय है। दोनों एक ही हैं अलग नहीं हैं। इन दोनों में जो भी भेदभाव देखता है वह रौरव नरक को जाता है। इस प्रकार का उपदेश कागभुसुण्डि के गुरुदेव उसको अपना बच्चा जानकर अपने ममत्व से प्राय: करते ही रहते थे, किन्तु यह उपदेश कागभुसुण्डि को बिल्कुल नहीं रुचता था। वह गुरुवर के इस प्रकार के उपदेश को सुनकर मन ही मन बहुत अधिक चिढ़ता रहता था एवं जिस समय में भी वे गुरुदेव उसके पास आते वह उनसे अप्रसन्न होकर, पीठ फेर करके बैठ जाया करता था। उसकी यह आदत भगवान शिव को भी अच्छी नहीं लगी। अन्तत: उन्होंने उसको श्राप दे दिया और कहा कि— 'रे मूर्ख! तु गुरु को पीठ देकर मेरी उपासना करता है यह तेरा प्रयास गलत है, इसलिए तू चौरासी लाख योनियों को भोग। चौरासी लाख योनि भोग लेने के बाद जब तेरा अंत:करण शुद्ध हो जायगा तभी तू मेरी कृपा का अधिकारी बन पायेगा। यह श्राप कागभुसुण्डि के गुरुदेव ने भी सुना और अपने बच्चे के लिये इतना कठोर दण्ड सुनकर उनके मन में बहुत ही दु:ख हुआ। उन्होंने एकाग्र मन से भगवान शंकर की बहुत ऊँची स्तुति की, जिसे सुन करके भगवान शंकर बहुत ही प्रसन्न हुये और उन्होंने उस ब्राह्मण गुरु से वर मागने को कहा। ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि हे प्रभो! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरे शिष्य को क्षमा कर दें और आपने जो कठोर दण्ड दिया है वह विपरीत होकर मिथ्या हो जाय। भगवान शंकर ने उत्तर दिया कि हे विप्रवर! मेरा वचन मिथ्या तो नहीं हो सकता, कम से कम इसको एक हजार जन्म तो लेने ही पड़ेंगे। पर जिस-जिस भी योनि में यह जायेगा, उस-उस योनि में इसको दु:ख की अनुभूति नहीं होगी। इस प्रकार से ब्राह्मण पर प्रसन्न हो भगवान शंकर ने कागभुसुण्डि के श्राप की निवृत्ति कर दी।

यदि विचार कर देखा जाय तो जब किसी जीवात्मा को जन्म-मरण के दु:ख की अनुभूति होगी नहीं तब उसे मिला अभिशाप समाप्त ही समझा जायेगा। जैसे जेल में रह करके जेली लोग तो दण्ड भोगते हैं, किन्तु उसी जेल में रहने वाले जेल के जेलर या अन्य ऊँचे अधिकारी जेल का दण्ड नहीं भोगते। और न वे लोग जेली (बन्दी) कहलाते हैं। इस प्रकार से कागभुसुण्डि की श्राप-निवृत्ति गुरु-कृपा से हो गई थी। यह जिस-जिस योनि में गया, उस-उस योनि में कोई दु:सह दु:ख उसे हुआ ही नहीं। और यह भी उल्लेखनीय है कि शिष्य का अभिशाप गुरुदेव से पीठ देकर भजन करने के कारण एवं भगवान विष्णु से ईर्ष्या-बुद्धि होने के कारण हुआ।

इसी का नाम **'कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं शक्तः'** हुआ करता है। यहाँ यह उदाहरणपूर्वक सिद्ध की परिभाषा है। सिद्ध लोगों का यह सामर्थ्य होता है कि वे अपनी शक्ति से जैसा भी अनुकूल या विपरीत चाहें हो जाय, करता है।

भगवान विष्णु के विविध चरित्रों में भी पुराणों में इस प्रकार की कथाएँ मिलती हैं। एक बार नारद मुनि बैकुण्ठ में गये। भगवान विष्णु ने उनको देखकर उनका स्वागत किया और कहा— हे मुनि! तुम तपस्वी तो बहुत ऊँचे हो, किन्तु यह बतलाओ कि तुमने कोई गुरु भी बनाया है या नहीं? नारद मुनि ने उत्तर दिया कि महाराज! मैंने अभी तक कोई भी गुरु नहीं बनाया है। इस पर भगवान विष्णु ने नारद को निगुरा देख करके स्पष्ट कह दिया कि— नारद यदि तुम गुरु नहीं बनाओगे तो तुम्हें चौरासी लाख यौनियाँ भोगनी ही पड़ेंगी, इसलिये तुम कोई गुरु अवश्य बनाओ। नारद ने कहा कि महाराज! मैं किसको गुरु बनाऊँ। भगवान विष्णु ने उत्तर दिया कि तुम मर्त्य लोक को चले जाओ और वहाँ जाकर जो व्यक्ति तुम्हें पहले मिल जाय उसी को तुम गुरु बना लेना। विष्णु भगवान की ऐसी आज्ञा लेकर वे भू-अण्डल पर आये और भू-मण्डल पर आते ही उन्होंने देखा कि हाथ में मच्छी पकड़े हुए मछियारा सामने से आ रहा है। उसको देखकर नारद मुनि ने कहा- महाराज! आप मेरे गुरु हैं। मछियारे ने उत्तर दिया— नारायण-नारायण! हे मुनि! हम आपके गुरु कैसे हो सकते हैं! हम तो रात-दिन मच्छियाँ मारते हैं और इसी व्यापार से अपना पेट-पालन करते हैं, हम आपके गुरु बनने के अधिकारी नहीं। आप किसी और विद्वान ऋषिमुनि को अपना गुरु बनाइये। मछियारे के ऐसे वचन सुन करके नारद मुनि पुनः लौटकर बैकुण्ड में आये। वहाँ आने पर विष्णु भगवान ने उनसे पूछा कि कहो नारद जी! तुमने गुरु बनाया या नहीं? नारद ने उत्तर दिया— हाँ महाराज! मैं गुरु तो बना आया हूँ, किन्तु गुरु पापी मिला है। नारद मुनि के इस प्रकार के शब्दों को सुन करके विष्णु भगवान ने उत्तर दिया कि हे नारद! गुरु और पापी ये दोनों बातें एक साथ कैसे? नारद! तुमने गुरु के लिये पापी शब्द का प्रयोग किया है, अब तो तुम्हें चौरासी लाख योनियाँ भोगनी ही पड़ेंगी। अतः जाओ और चौरासी लाख योनियों को भोगो। नारद मुनिने पुनः प्रार्थना की कि- हे प्रभो! मुझे आपने चौरासी लाख योनियाँ भोगने का श्राप तो दे दिया, किन्तु चौरासी लाख योनियों से छूट जाने का कोई उपाय नहीं बतलाया— इसलिये इनसे छूटने का भी कोई उपाय बतला दीजिये। भगवान विष्णु ने कहा कि हे मुनि! इसका उपाय भी तो तुम्हारे गुरु ही बता देंगे। नारद मुनि भगवान विष्णु का आदेश सुन करके पुनः अपने उसी मछियारे गुरु के पास गये और जा करके उन्हें सब हाल बताकर चौरासी लाख योनियों से छूट जाने का उपाय पूछा। मछियारे गुरु ने उत्तर दिया कि हे नारद! जाओ तुम बैकुण्ठ लोक में जाकर विष्णु भगवान से कहना कि वे चौरासी लाख योनियों के नाम लिखकर बता दें और जब वे नाम लिख दें, तो उनके लिखे हुये नामों के ऊपर लेट जाना। बस! इतना करने मात्र से तुम्हारी चौरासी लाख योनि छूट जायेंगी। नारद मुनि ने ऐसा ही किया। बैकुण्ठ में जा करके विष्णु भगवान से कहा कि महाराज! आप एक बार चौरासी लाख योनियों के नाम लिखकर मुझे दीजिये। भगवान विष्णु ने सर्व शक्तिमता से वे सभी नाम तत्काल लिखकर दे दिये। नारद मुनि उनके ऊपर लेट गये। नारद को इस प्रकार लेटते हुए देखकर विष्णु भगवान ने कहा— नारद! यह क्या कर रहे हो? नारद ने उत्तर दिया— महाराज! मेरे गुरुदेव ने मुझे चौरासी लाख योनियों से छूटने का यही उपाय बतलाया है। विष्णु भगवान नारद मुनि को यह बात सुनकर हँस पड़े और कहा कि देखो नारद! यह है गुरु की शक्ति! उन्होंने हमारे दिये हुए श्राप को भी एकदम मिथ्या कर दिया। इसी शक्ति का नाम **'कर्तुं अकर्तुं कर्तुं''** की शक्ति है, यहाँ सिद्धों की परिभाषा है।

श्री आनन्दकन्द प्रभुजी जो परम सिद्ध-अनादि सिद्ध हैं, वे अपने नैपाल-धाम के चरित्रों के प्रसंग में एक घटना बतलाया करते थे, वह घटना भी **'कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं''** की सर्वथा प्रतीक है। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने (मेरे गुरुदेव जी ने) नैपाल-हिमालय की आंखों देखी वह घटना बतलाई, जो इस प्रकार है— एक बार वहाँ पर हमारे दादा गुरु सदाशिव स्वरूप अति वृद्ध ऋषि जो कि छः महीने में एक बार समाधि से उठते हैं के सामने उस वनखण्ड की सभी ऋषि-मण्डली इकट्ठी हुयीं और सत्संग होने लगा। उस सत्संग में चर्चा चली कि एक सर्व समर्थ योगी को क्या चाहिये। वह अपने साथ कर्मबन्धन में फँसकर आने वाले जीवों के संस्कार का कुछ भुगतान करे या अपनी योग शक्ति से अपने साथ लगे हुये उनके संस्कारों को काट दे। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

विद्यते हृदय ग्रन्थि,
छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयते चास्य कर्माणि,
तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

अर्थात् उस सर्व व्यापक परमात्मा के परावर दर्शन कर लेने के बाद मनुष्य की हृदय ग्रन्थि खुल जाती है एवं सारे संशयों का नाश हो जाता है। कर्म-बन्धन क्षय हो जाते हैं। परावर दर्शन प्राप्त योगी के लिये यह काम बिना ही किसी प्रयास के स्वतः ही बन जाया करता है। इसलिये इस काम के लिए उनको कुछ भी प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इस पर एक दूसरे पूर्ण सिद्ध महात्मा योगिराज जी ने उत्तर दिया कि जिन लोगों के साथ अभी तक हंस बन्धन में चले आये हैं उनका भुगतान कर दिया जावे अर्थात् अपनी आत्म-शक्ति से उनका कुछ भला कर दिया जावे वह उत्तम ही है। इनकी बात को सुनकर उस दूसरे पाँच सौ साल वाले ऋषि ने क्रोध में आकर उनको श्राप दे दिया कि तुम तो चौरासी लाख योनि भोगने लायक थे। चौरासी लाख योनि भोग लो, यहाँ आये ही क्यों? उस ऋषि की इस धृष्टता को देखकर हमारे दादा गुरु श्रभ महाप्रभु जी ने उसको कहा कि इसकी चौरासी लाख योनि को तो हम देखेंगे कि क्या करना है, किन्तु तुम अभी नीचे उत्तर जाओ, क्योंकि इतनी ऊँची परिपूर्णता को पाकर भी तुमने अभी तक क्रोध का परित्याग नहीं किया है। श्री महाप्रभुजी के ऐसा कहने पर वह ऋषि उसी समय नीचे उतर गया। उसको नीचे उतरा देखकर

के एक-दूसरे ऋषि ने महाप्रभुजी के चरणों में प्रार्थना की कि महाराज! यह ऋषि तो आपके अभिशाप से तत्काल नीचे उतर गया, किन्तु वे दूसरे ऋषि जिनको कि चौरासी लाख योनिका श्राप मिला है, उनका क्या होगा? श्री महाप्रभुजी ने उत्तर दिया— वह सब काम हम अभी किये देते हैं। श्री महाप्रभुजी ने उन श्रापित ऋषि को आज्ञा दी कि तुम थोड़ी देर ध्यान में बैठ जाओ। वह ऋषिराज थोड़ी देर समाधि में बैठ गये। उस समाधि अवस्था में उन्होंने देखा कि वे एक-एक क्षण के अन्दर हजारों पशु-पक्षी आदि की योनियों में से निकलते हुए आ रहे हैं। इस इस प्रकार श्री महाप्रभुजी ने उनकी एक घण्टे की समाधि के अन्दर ही पूरी चौरासी लाख योनियों का भुगतान भुगताकर पूरा करा दियां। अर्थात् उनकी चौरासी लाख योनि एक घण्टे में निबट गयीं। अब उनके लिये कोई भोग बाकी नहीं रहा और वह ऋषिराज अपने शुद्ध ब्रह्मतत्व में ही ज्यों के त्यों लीन रहे। उनके ऐसे भुगतान कर लेने के बाद एक दूसरे ऋषि ने प्रश्न किया कि— महाराज! आपने इनकी तो निष्कृति कर दी, किन्तु जिस ऋषि को आपने नीचे उतर जाने का श्राप दिया है, उसका क्या होगा? उस पर भी कृपा होनी चाहिए। श्री महाप्रभु जी ने उतर दिया कि हां उसके लिए भी ठीक हो जायेगा। उसको नीचे उतरने मात्र का श्राप है, वह अब नीचे उतर आया। नीचे उतरकर अब फिर ऊपर चला जायेगा और वह भी अपनी पूर्व स्थिति में ही स्थित रहेगा। उनके इस अभिशाप की निवृत्ति नीचे उतरने मात्र से हो गई। अब उसके ऊपर भी कोई श्राप लागू नहीं है। अब वह अपनी पूर्ववत् स्थिति में आने के बाद जैसा का तैसा सिद्ध योगिराज की बना रहेगा। इसी का नाम है **''कर्तुं अकुर्तं अथवा कर्तुं, सर्वथा शक्तः शैव सिद्धः'** यही सिद्ध शब्द की परिभाषा है।

अनादि सिद्ध एवं साधन सिद्ध

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने इससे पूर्व अपने लेख में सिद्ध शब्द की परिभाषा बताते हुए हमने सउदाहरण स्पष्ट किया था कि 'सिद्ध' शब्द का आशय क्या है। और जो इस 'सिद्ध' शब्द का आशय क्या है। और जो इस सिद्ध शब्द की परिभाषा में आते हैं, वे किस प्रकार **'कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं'** की क्षमता वाले सिद्ध हुआ करते हैं। अपने इस प्रस्तुत लेख में हम यह समझाने की चेष्टा कर रहे हैं कि सिद्ध कितने प्रकार के होते हैं।

इस विषय में शास्त्र-सम्मत तो यही बात सामने आती है कि मुख्यत: इनके दो भेद होते हैं— एक अनादि सिद्ध, दूसरे साधन-सिद्ध। इनमें अनादिकालीन सिद्ध वे होते हैं जो सृष्टि के आरम्भ काल से चले आये हैं। योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने ईश्वर का लक्षण करते हुए बतलाया है कि—

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुष विशेष ईश्वर:।

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इनसे बिल्कुल अपरामृष्ट पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है। वह सदा ही मुक्त है और अनन्त काल की ज्ञान-गति से सदा ही सिद्ध है। पढ़िये इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी का भाष्य—

अविद्यादय: क्लेशा:, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाक:, तदनुगुणा वासना आशया:।

ते च मनसि वर्त्तमाना: पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति, यथा जय: पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमान: स्वामिनी व्यपदिश्यते, यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्ट: स पुरुषविशेष ईश्वर:। कैवल्य प्राप्तास्तर्हिं सन्ति च बहव: कैवलिन:। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्य प्राप्ता:। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धों न भूतो न भावी यथा मुक्तस्य षूर्वा बन्धकोटि: प्रज्ञायते नैवमी-श्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटि: सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्त: सदैवेश्वर: इति, योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्ष: स किं सनिमित्त आहोस्विन्नि र्निमित्त इति? तस्य शास्त्रं निमित्तम् शास्त्रं पुन: किन्निमित्तं? कृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयो: शास्त्रोत्कर्षयोरी-श्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादि सम्बन्ध:। एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वर: सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्य्य साम्यातिशय विनिर्मुक्तं। न तावदैश्वर्य्यान्तरेण तदतिश्य्यते। यदेवातिशति स्यात् तदेव तत्स्यात्, तस्माद यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्चर्य्यस्य स ईश्वर:। न च तत्समानमैश्वर्य्यमस्ति। कस्माद्? द्वयोस्तुल्ययोरे कस्मिन युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविधातादूत्वं प्रसक्तं द्वयोश्चतुल्य-योर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्त्यर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद्यस्य साम्यातिशय विनिर्मुक्तमैश्वर्य्य स ईश्वर: स च पुरुष विशेष इति।

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये सभी क्लेश कहलाते हैं और जिन क्रियाओं के अन्दर अच्छे और बुरे का लगाव रहता है, उनको कर्म कहते हैं और कर्मों के फल को विपाक कहते हैं और कर्म फल को अनुसरण करने वाली भावना को वासना कहते हैं। और ये सभी मन में रहा करते हैं किन्तु व्यवहार में जीवात्मा के अन्दर रहते हैं ऐसा कहा जाता है। वह जीवात्मा ही इनके फलों का भोक्ता है। जैसे कहीं पर बड़ी भारी लड़ाई हो रही हो और किसी पक्ष के सिपाही लड़ाई करने वाले जीत जायँ तो वह जीत सिपाहियों की नहीं मानी जाती, प्रत्युत उनके मालिक उस राजा की मानी जाती है जो उस देश का राजा है। यथार्थ में वह राजा इस विजय से छुआ तक नहीं। इसलिये क्लेश, कर्म, विपाक आदि वर्तमान तो मन में ही रहते हैं और मन प्राकृत है, त्रिगुणात्मक है। उसका पुरुष से कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु फिर भी लोक व्यवहार में वह सुखी है वह दु:खी। इस प्रकार का व्यवहार आत्मा के लिए देखने में आता है वस्तुत: तो सुख-दु:ख, क्लेश-कर्म-विपाक् आदि का विषय मन और बुद्धि का है। इसी कारण से वह अनादि-काल से ही परम-सिद्ध ईश्वर क्लेश-कर्म-विपाक् आदि के भोगों से अपरा-मृष्ट है।

यहाँ पर कोई एक प्रश्न पैदा करता है कि बहुत से केवली लोग इस प्रकार के हैं, जो क्लेश, कर्म, विपाक् आदि से छूटकर एवं तीनों बन्धनों को काटकर मुक्ति को प्राप्त हो गये हैं। ये लोग भी क्लेश, कर्म, विपाक आदि से अपरामृष्ट हैं। इनको भी ईश्वर क्यों नहीं माना जाता? उत्तर— इसका यह है, कि ऐसे लोग पहले तो बन्धन-कोटि में ही थे, किन्तु अपने साधन बल से बड़े भारी पुरुषार्थ के बाद वे लोग तीन बन्धनों से छूट गये हैं। इसी प्रकार कुछ ऐसे लोग होते हैं जो शुरु से ही प्रकृतिलीन चले आते हैं। उनकी भी कालान्तर में बन्ध-कोटि की सम्भावना ही की जा सकती है पर ईश्वर के साथ इन तीन बन्धनों का सम्बन्ध नहीं है वह ईश्वर तो सदा ही ईश्वर है और सदा ही मुक्त है।

प्रश्न— ईश्वर का प्रकृष्ट सत्वोपादानादि शाश्वतिक उत्कर्ष किसी कारण को लेकर है, या बिना कारण के है?

उत्तर— उस ईश्वर के उस प्रकृष्ट सत्वोपादानादि का कारण शास्त्र है एवं शास्त्र का कारण प्रकृष्टसत्व है। इन प्रकृष्टसत्वादि और शास्त्रोत्कर्ष आदि का अनादि सम्बन्ध है। इसलिये वह ईश्वर सदा ही मुक्त है एवं सदा ही ईश्वर है। उसका ऐश्वर्य **''साम्यातिशय विनिर्मुक्त''** है, क्योंकि उस ईश्वर के समान कोई और सर्वशक्तिमान नहीं है। उदाहरण में इस बात को इस प्रकार से समझ लीजिये कि किसी एक वस्तु के लिए दो की यह भिन्न-भिन्न प्रकार की कामना है— एक कहता है कि यह वस्तु नयी हो जाये और दूसरा कहता है कि नहीं, यह वस्तु पुरानी ही रहनी चाहिए। इसलिए इस विषय में विवाद रहने पर एक की कामना पूर्ण नहीं होगी और दूसरे की पूरी हो जायेगी। इस प्रकार एक की कामना का विघात् हो गया और दूसरे की कामना पूर्ण हो गई। इसलिए जिसका ऐश्वर्य **'साम्यातिशयविनिर्मुक्त'** है। अर्थात् जिसकी शक्ति से बढ़ करके और किसी की शक्ति नहीं है वही ईश्वर है और उस ईश्वर का ऐश्वर्य सदा सर्वदा रहने वाला है। इसीलिये यह कहा गया है कि—

य देवातिशायी, शैव ईश्वरः

अर्थात् जो सबके ऐश्वर्यों का अतिक्रमण कर गया है वही ईश्वर है और अनादि काल की ज्ञान-गति से स्वतः ही सिद्ध है। उसको शक्ति प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार की कोई साधना नहीं करनी पड़ी, इसलिए ईश्वर को अनादि-सिद्ध माना गया है, इसलिए ईश्वर कोटि में वर्तमान भगवान ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं भगवती महा-माया दुर्गा और कपिलादि मुनि ये सबके सबही अनादिकालीन महासिद्ध हैं। इन सबको कभी किसी प्रकार की साधना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसलिए इनमें से किसी का भी कहीं अवतरण होता है या ये लोग कोई कार्य विशेष करना चाहते हैं तो वह काम अपनी अनादिकालीन शक्ति के द्वारा जो शक्ति इनके शाश्वतिक उत्कर्ष के साथ अनन्त काल से है ही है किया करते हैं। इसलिये इनको अनादिकालीन महासिद्ध माना जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी श्रीमद्भगवद्गीता के अन्दर स्वयं अपने आपको पुरुषोत्तम स्वीकार कर रहे हैं—

द्वाविमो पुरुषौ लोके,
क्षरश्चाक्षर एवं च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि,
कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः,
परमात्येत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविस्य,
बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहम-
क्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदो च,
प्रथितः पुरुषोत्तमः।।

अर्थात् अर्जुन को उपदेश करते हुए भगवान श्रीकृष्ण अपने मुखारविन्द से कह रहे हैं कि हे अर्जुन! संसार में दो पुरुष हैं— एक क्षरात्मक और दूसरा अक्षर। क्षर तो ये सभी पञ्च महाभूत हैं और कूटस्थ जो जीवात्मा है, वह अक्षर कहलाता है और उत्तम पुरुष इन दोनों से भिन्न है, जो सर्व व्यापक तीन लोक का पालन-पोषण करता है, उसी का नाम परमात्मा है। इसलिए हे अर्जुन! मैं क्षर और अक्षर दोनों से परे पुरुषोत्तम कहलाता हूँ। पुरुषोत्तम में एवं पुरुष विशेष में कोई भी अन्तर नहीं है। इसलिये भगवान श्रीकृष्ण एवं ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी अनादिकालीन महासिद्ध हैं और इन सभी का ऐश्वर्य **''साम्यातिशयविनिर्मुक्तः''** इसके अतिरिक्त दूसरी प्रकार के वे सिद्ध लोग हैं जो विशेष प्रकार की साधनायें करके सिद्ध हो गये हैं।

वे लोग भी क्लेश, कर्म, विपाक् आदि की अपरामृष्टता को प्राप्त तो हो गये हैं, किन्तु अपनी साधना के बल से। भगवान पतञ्जलिदेव ने अपने योग-दर्शन में कर्म जाति को चार प्रकार से माना है। उनमें से पाप-कर्म एक प्रकार के, पुण्य-कर्म दूसरे प्रकार के एवं पाप और पुण्य के मिले-जुले कर्म तीसरी प्रकार के और जो कर्म न पाप के हैं और न पुण्य के हैं, वे कर्म योगियों के कहलाते हैं। पाप-पुण्य के झमेले को छोड़कर करने मात्र के लिए जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म आशुक्ल एवं आकृष्ण कहलाते हैं अर्थात् इन कर्मों से पाप और पुण्य का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। ईश्वर के साथ इन कर्मों का सम्बन्ध कभी था ही नहीं और जो लोग साधनायें करके सर्व सामर्थ्यता को प्राप्त कर गये हैं वे लोग आशुक्ल-आकृष्ण के कर्मों को प्राप्त हो गये हैं। पढ़िये योग-दर्शन में भगवान पतंजलिदेव का इस विषय का आदेश एवं व्यास भाष्य की पंक्तियाँ। इससे यह सिद्ध हो जायेगा कि योगी लोग अपने आपको क्लेश, कर्म, विपाक् आदि से अपरामृष्ट अपनी साधना के बल पर हो पाते हैं और ईश्वर के लिए कभी इस प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसीलिए क्लेश, कर्म, विपाक्, अपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर कह करके ईश्वर की सदाकालीन अपरामृष्टता को बतलाया और साधना करके सिद्ध होने वाले योगियों को साधन बल से प्राप्त क्लेश, कर्म, विपाक आदि की अपरामृष्टता को बतलाया। यही कारण है कि योगियों के कर्म क्रिया मात्र के पाप पुण्य रहित बतलाये हैं :—

''कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

चतुष्यात् खल्वियं कर्मजातिः— कृष्णा, शुक्लकृष्णाः, शुक्ला, अशुक्लाकृष्णाचेति, तत्र कृष्णा दुरात्मनां, शुक्लकृष्णा बहिः साधन-साध्या तत्र परपीड़ाऽनुग्रह द्वारेण कर्माशय प्रचयः,

शुक्ला तपः स्वाध्यायध्यानवतां सा हि केवले मनस्याय-त्तत्वादबहिः साधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति। अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति, तत्रा शुक्लं योगिन एवं फलसंन्यासाद अकृष्णं चानुपादानाद्, इतरेषां तु भतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति।''

अर्थात् इस चतुर्विध कर्म जाति के अन्दर पाप के कर्म, पुण्य के कर्म, पाप और पुण्य के मिश्रित कर्म यह तीनों प्रकार के कर्म संसार वालों के हुआ करते हैं और पाप-पुण्य रहित केवल क्रियामात्र के कर्म केवलमात्र योगियों के हुआ करते हैं क्योंकि वे लोग अपनी साधना के बल से क्लेश, कर्म आदि से विमुक्त हो जाया करते हैं। योगी लोग अपनी तीव्र-साधना के आधार पर प्रसुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति का उद्‌बोधन करके और साधना बल से उसको सहस्रार में ले जाकर विलीनन कर देते हैं और षट्‌चक्रों का पूरी तरह से भेदन करके ज्ञान-विज्ञान पर पूरा अधिकार करके पूरी सामर्थ्य वाले हो जाया हैं। योगी अपने संयम के बल पर कितनी बड़ी ताकत वाला हो जाया करता है। वह जहाँ-जहाँ संयम करता है वहाँ-वहाँ की शक्ति को पूर्णरूपेण प्राप्त कर लेता है। पढ़िये योगी की संयम शक्ति को बतलाने वाला सूत्र और उस पर व्यास भाष्य की टीका—

परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः।

सूक्ष्मे निविशमानस्यपरमाणवन्तं स्थितिपदं लभत इति। स्थूले निविशमानस्य परममहत्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य। एवन्तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतीघातः स परो वशीकारः। तद्धशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति।।

अर्थात् जब योगी सूक्ष्म विषयों में संयम आरम्भ करता है तो सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु तक का साक्षात्कार कर लेता हूँ। और जब योगी स्थूल विषयों में अपने चित्त को संयमित करता है तो परम महत्त्व अर्थात् मूल प्रकृति पर्यन्त का साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार से छोटे से छोटे और बड़े से बड़े विषय में संयम करता हुआ योगी अपने संयम बल को पूर्णरूपेण सिद्ध कर लेता है। फिर उसका संयम बल इतना उत्कृष्ट हो जाता है कि उसको किसी विषय के साक्षात्कार करने के लिये संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। अपने संकल्प बल से ही वह संयम को सिद्ध करता है। और जहाँ-जहाँ योगी संयम करता है वहाँ-वहाँ की ताकत को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार से योगी अपने संयम समाधि के बल से पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है। ऐसे साधन सिद्ध योगी सर्व-सामर्थ्य वाले होते हैं। ये लोग भी क्लेश, कर्म आदि से अपरामृष्ट होते हैं किन्तु इन साधन सिद्ध लोगों में एवं अनादि सिद्धों में इतना ही अन्तर होता है कि ये लोग अपनी साधनाओ के बल पर सामर्थ्यवान होते हैं और इनका ऐश्वर्य क्योंकि शाश्वत एवं शाश्वतिक उत्कर्ष से सम्बन्ध रखने वाला होता है अतः शाश्वतिक उत्कर्ष से पूरिपूर्ण होता है। इनके सामर्थ्य में भी किसी प्रकार की कमी नहीं होती। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी मेरे श्री गुरुदेव जी महाराज, हिमालय की पावन कन्दराओं में निवास करने वाले साधन सिद्ध योगियों के विषय में जिक्र किया करते थे कि वे लोग अपनी-अपनी साधनाओं के बल पर परमोत्कृष्ट बल एवं ऐश्वर्य वाले होते हैं। एवं उन सभी के अन्दर सृष्टि निर्माण सामर्थ्य भी हुआ करता है। यद्यपि वे लोग परम योगी ईश्वर के कार्यों में किसी भी प्रकार का हस्तेक्षेप नहीं करते हैं फिर भी यदि वे लोग चाहते हैं तो अपने संकल्प मात्र से सृष्टि-निर्माण की सामर्थ्य वाले भी होते हैं। हिमालय के अन्दर इस प्रकार के योगेश्वर बैठे हैं जिनमें से किसी ने भी क्षण-भर के लिये विचार कर लिया कि— **'एकोऽहं बहुस्याम्।'** इतना संकल्प मन में आते ही एक से अनेक हो जाते हैं। अपने रोम कूपों से हजारों स्त्रियों को और दूसरी ओर से अपने ही रोम-कूपों से हजारों पुरुषों को पैदा करके एक नगर जैसा बसा कर सभी लौकिक व्यवहारों का सम्पादन करने लगते हैं। उनके सृष्टि-सृजन में कोई यह जान भी नहीं पाता कि यह इतने स्त्री पुरुष कहाँ से पैदा हुए और कहाँ इनकी लीनता होगी। देखने वाले तो यही जानते हैं कि ये लोग भी हमारे तुम्हारे ही तरह के साधारण लोग ही हैं। इस प्रकार सृष्टि-विस्तार करके जब महायोगेश्वर चाहते हैं एक श्वांस के आकर्षण से अपने अन्दर सभी को विलीन भी कर लेते हैं। पाठकगण इन सब बातों में संशय न मानें। हमारा प्राचीन इतिहास भी इस बात की साक्षी देता है कि योगियों में इतनी बड़ी सामर्थ्य हुआ ही करती थी। रामचरित मानस को पढ़ने वाले लोग यह भली प्रकार से जानते हैं कि भरत जी महाराज जिस समय अपने मन्त्रि-मण्डल सहित एवं अतुलित सैन्य बल को साथ लेकर अयोध्या जी में राम को वापस लाने के लिये गये एवं रास्ते में भारद्वाज ऋषि के आश्रम में निवास किया तो श्री भरद्वाज जी महाराज ने अपनी अतुलित योग शक्ति से हजारों जनवासे एवं दास दासियों को और सेनाओं के निवास को भी सब उचित स्थान बना दिये। यह सब श्री भरद्वाज जी की यौगिक शक्ति का ही परिणाम था। इस ही प्रकार श्री विश्वामित्र जी का महाराजा त्रशंकु के लिये नये स्वर्ग का निर्माण करना आदि विपुल कार्य इनकी अलौकिक शक्ति के परिचायक थे। ये साधन सिद्ध योगियों के लक्षणों से युक्त थे। आजकल इस कलिकाल के समय में भी श्री गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, नैमीनाथ आदि-आदि नाथ सम्प्रदाय के एवं गोपीचन्द्र भर्तृहरि आदि पूर्ण-सिद्ध योगिराज सर्व सामर्थ्यवान् सिद्धयोगी हुए हैं, जिन्होंने अपनी साधना के बल पर ही इतना ऊँचा अपने आपको उठा लिया कि उनका ऐश्वर्य देखते ही बनता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

कर्माशय और उसका भोग

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

अखिलात्मा त्रिजगत-पावन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने कर्म गति की गहनता को समझाते हुए अर्जुन से कहा कि—

किं कर्म किमकर्मेति,
कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि,
यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं,
बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं
गहना कर्मणो गतिः।।

अर्थात् कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस बात को बड़े-बड़े विद्वान भी नहीं समझ सके। अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन मैं तुम्हें कर्म का रूप समझाता हूँ जिसको समझ लेने के बाद तुम पाप-कर्मों से बच जाओगे। तुम कर्मों को भी समझो और उसके साथ ही अकर्मों को जानो। विकर्मों को समझते हुए अकर्मों के स्वरूप को भी समझ लो क्योंकि कर्मगति बहुत ही गहन है।

इस प्रकार से भगवान श्रीकृष्ण ने कर्मगति की गहनता को भली प्रकार से समझा करके अर्जुन को एक विशेष आदेश दिया और वह यह कि—

कर्मण्यकर्म यः पश्येद-
कर्माणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स
युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।
यस्य सर्वे समारम्भाः
कामसंकल्पवर्जिताः
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं
तमाहुः पण्डितं बुधाः।।
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं
नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव
किंचित्करोति सः।।
निराशीर्यतचित्तात्मा
त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म
कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।

अर्थात् जो व्यक्ति कर्म के अन्दर अकर्म को देखे और अकर्म के अन्दर कर्म को देखे वह मनुष्यों में बुद्धिमान है। ऐसे व्यक्ति ठीक कर्म का करने वाला युक्त कहा गया है। जो व्यक्ति कामनाओं के संकल्प को छोड़कर के कर्मों की आरम्भ करता है वह ज्ञानाग्नि के द्वारा कर्म समूह का दहन कर डालता है। बुद्धिमान लोगों में उसको पण्डित कहा है। जो व्यक्ति कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर नित्य-तृप्त और निराश्रय रहता है तो वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। क्योंकि जिसने सब प्रकार के परिग्रह को छोड़ दिया है एवं सब प्रकार की आशाओं से रहित हो करके अपने चित्त, अपने आप पर कन्ट्रोल करके केवलमात्र कर्त्तव्य बुद्धि से शरीर से ही कर्म करता है वह फिर पाप को प्राप्त नहीं होता। वैसे संसार भर के सभी प्राणियों के लिए कर्मों का विधान चार प्रकार से कहा गया है–

१. — वह कर्म है जिनको हम पाप-कर्म और क्लिष्ट कर्म कहा करते हैं।

२. — वह कर्म है जिनको हम पुण्य के कर्म कहा करते हैं। यही कर्म दार्शनिक भाषा में अक्लिष्ट कर्म हे जाया करते हैं।

३. — वह कर्म है जो पाप और पुण्य के मिले-जुले कर्म हुआ करते हैं। और

४. — वह कर्म हैं जो केवल मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से किये जाया करते हैं उन कर्मों में कर्त्ता के कृतत्व की भावना बिल्कुल नहीं रहती। इस कर्म विधान की शृंखला को इस प्रकार से समझ लेना चाहिये।

जैसे पाप कर्म— अर्थात् जो कर्म परिपीड़न के द्वारा कठोर हिंसा-वृत्ति से किये जाते हैं। अर्थात् मनुष्य अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरों को घोरतम कष्ट देकर भी अपने स्वार्थ की पूर्णता में लगा रहा करता है ऐसे कर्म पाप-कर्म कहलाया करते हैं। ये कर्म मनुष्य काम से क्रोध से लोभ और मोह से किया करता है। इस ही प्रकार से पुण्य-कर्म अर्थात् अक्लिष्ट कर्म वे कहलाते हैं जिन कर्मों में हिंसा-वृत्ति का नाम नहीं रहता। मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि करना चाहता है किन्तु सुख पाने के लिए यज्ञ, ज्ञान, तप आदि पुण्य कर्म किया करता है। इन कर्मों में परिपीड़न का

लक्ष्य तो बिल्कुल नहीं रहता किन्तु सकामकर्म तो हैं ही। इसके अतिरिक्त तीसरी प्रकार के वे कर्म कहलाते हैं जिनमें मनुष्य अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए यज्ञ, ज्ञान, तप आदि कर्म पुण्य के लिये करता तो है किन्तु इनके बीच में पुण्य संवर्धन के लिये अर्थ पुण्य रूप स्वस्वार्थ की सिद्धि के लिये यदि किसी को पीड़ा देनी भी पड़ती है तो वह साधक व्यक्ति नि:संकोच पीड़ा दे डालता है। इस प्रकार के कर्मों को पाप और पुण्य के मिले-जुले कर्म कहा गया हैं। चौथे प्रकार के कर्म वे होते हैं जो केवल करने मात्र के लिये किये जाते हैं। उनके अन्दर पाप या पुण्य की कोई भी भावना नहीं होती। ऐसे कर्म अकर्म कहलाते हैं। आनन्द-कन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने ऐसे व्यक्ति का बड़े ही सुन्दर शब्दों में रूपक से समझाया है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो
द्वन्द्वातीतो विमत्सर:।
सम: सिद्धावसिद्धौ,
च कृत्वापि न निब्धयते।।
गतसङ्गस्य मुक्तस्य,
ज्ञानावस्थित चेतस:।
यज्ञायाचरत: कर्म,
समग्रं प्रविलीयते।।

अर्थात् जो व्यक्ति मद-मत्सर रहित द्वन्द रूप सुख-दु:ख के जोड़े को सहन करने वाला एवं यदृच्छा रहने वाला है, जिसका मन सिद्धि और असिद्धि में समान रहता है। जो बिल्कुल गतसंग है, जिसका चित्त ज्ञानावस्थित है ऐसा व्यक्ति यथार्थ में कोई कर्म करता भी है तो वह कर्म कर्म नहीं कहलाता अकर्म कहलाता है। ऐसे कर्मों का विलय स्वत: ही हो जााय करता है, इसी कर्म रूपक को समझाते हुए इस चतुर्विध कर्म जाति को भगवान् श्री पतंजलिदेव जी महाराज ने इस प्रकार से अभिव्यक्त किया है—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगितास्त्रिविधमितरेषाम्।

—कैवल्यपाद ७

अर्थात् आशुक्लाकृष्ण कर्म योगियों के होते हैं और शेष तीन प्रकार के कर्म संसार वालों के हुआ करते हैं। इस सूत्र पर पढ़िये व्यासदेव जी का भाष्य—

चतुष्पात् खल्वियं कर्मजाति: कृष्णा-शुक्लकृष्णा, शुक्ला, अशुल्काकृष्णाचेति। तत्र कृष्णा दुरात्मनाँ, शुक्लकृष्णा बहि: साधनसाध्या तत्र परपीड़ानुग्रहद्धारेण कर्माशयप्रचय:। शुक्ला तप:स्वाध्यायवताम् सा हि केवले मनस्यायतत्वाद बहि: साधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति। अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति। तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासादकृष्णं चानुपादानात्। इतरेषान्तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति।।7।।

अर्थात् यह कर्म जाति चार प्रकार की है— कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला, आशुक्ला कृष्णा। उनमें से कृष्ण कर्म पापियों के व दुरात्माओं के हुआ करते हैं और इसके बाद शुक्लाकृष्णा कर्माशय बाहर के साधनों के आधीन हुआ करता है। मनुष्य संस्कारवश कभी किसी को पीड़ा या दु:ख देता है और कभी किसी को पीड़ा या दु:ख देता है और कभी किसी पर अनुग्रह करता है। इस प्रकार से इस कर्माशय का पाप-पुण्य रूप उभय फलात्मक प्रचय हुआ करता है। उसके बाद तीसरा कर्माशय शुक्ल अर्थात् पुण्य प्रधान हुआ करता है। यह कर्माशय तप और स्वाध्याय या ध्यानाभ्यासियों का केवलमात्र मन से सम्बन्ध रखने वाला होता है। इसमें बाहर के साधनों की आवश्यकता नहीं होती और न ही पर-पीड़ा आदि का कोई कर्माशय बनता है। इसके बाद चौथा कर्माशय आशुक्लाकृष्ण कहलाता है। आशुक्लाकृष्ण का अर्थ है, जिस कर्माशय में न पाप ही होते हैं और न पुण्य ही हुआ करते हैं, यह कर्माशय केवलमात्र कर्तव्यबुद्धि से ही किया जाया करता है। यह कर्माशय केवलमात्र संन्यासियों का, चरम-देहधारियों का होता है। चरम-देह का अर्थ है कि जो लोग कृतकृत्य हो चुके हैं और यह उनका शरीर अन्तिम शरीर है अर्थात् पुण्य-पापात्मक विपाकार भी उनका कर्माशय समाधि के द्वारा क्षीण हो चुका है और वे लोग सर्वकर्मन्यास की स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए ऐसा कर्माशय केवलमात्र चरम-देहधारी योगियों का अथवा संन्यासियों का ही हुआ करता है। त्रिविपाकारम्भी कर्माशय केवलमात्र सांसारिक लोगों का ही हुआ करता है। इस कर्माशय का प्रचय क्लेशमूलक होने से ही हुआ करता है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पांच प्रकार के क्लेशों का वर्णन पहले किया जा चुका हैं। ये पांचों क्लेश ही कर्माशय को जन्म देने वाले हुआ करते हैं। चरम-देहधारी योगी लोग जब सब प्रकार से कर्मन्यास कर चुकते हैं कुछ समय, क्योंकि उनके कर्म दग्धबीज भाव को प्राप्त हो जाया करते हैं। इसलिये उन लोगों के कर्म कर्माशय प्रचय में में समर्थ नहीं होते। इसलिये कर्माशय को केवलमात्र क्लेशमूलक ही कहा गया है। यह कर्माशय किस-किस प्रकार से कर्म विपाक को पैदा करता है, वह सब हम इसी लेख में आगे चलकर समझायेंगे। इससे पहले यह विचार लेना बहुत ही आवश्यक है कि कर्म विपाकारम्भी कर्माशय कितने प्रकार का हुआ करता है। कुछ कर्माशय दृष्ट जन्म संवेदनीय कहलाया करता है और कुछ कर्म इस प्रकार के हुआ करते हैं, जिनका कर्माशय अदृष्ट जन्म संवेदनीय कहलाता है। जो कालान्तर में अर्थात् जन्म-जन्मान्तर में अपने फल का प्रकाश किया करता है। भगवान् पतंजलिदेव ने इस दृष्ट-जन्म संवेदनीय और अदृष्ट-जन्म-संवेदनीय कर्माशय को इस प्रकार से बतलाया है—

क्लेशमूल: कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय:

—साधनपाद १२

अर्थात् यह क्लेशमूलक कर्माशय दृष्टजन्म वेदनीय और अदृष्टजन्म-संवेदनीय दो प्रकार का हुआ करता है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी महाराज ने इस क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा बनने वाले दृष्टादृष्टजन्म-संवेदनीय के विषय में जो विचार अभिव्यक्त किये हैं उनको निम्नांकित पंक्तियों में पढ़ लीजिये, जिससे क्लेशमूलक दृष्टादृष्टजन्म-संवेदनीय पुण्यपापात्मक विपाकारम्भी स्वरूप का पूरी तरह से ज्ञान हो सके।

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः, कामलोभमोहक्रोधभवः। स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसवेगेन मन्त्रतपः समाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवता महर्षि महानुभाबानामाराधनाद्धा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विसु कृतः पुनः पुनरपकारः, स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते। यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वादेवत्वेन परिणतः। तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्य्यक्त्वेन परिणत इति। तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। क्षीणक्लेशानामपि नास्त्य दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय इति।।12।।

अर्थात् ये पुण्यापुण्य प्रधान कर्माशय काम, लोभ और मोह से पैदा होने वाला कहा गया है। उसके दो रूपक हैं— (१) वह जो दृष्ट-जन्म-संवदनीय कहलाता है और (२) वह जो अदृष्टजन्म-संवेदनीय कहलाता है। दृष्टजन्म संवेदनीय कर्माशय का अर्थ है जो इसी जन्म में तत्काल फल देने वाला कर्माशय है और दूसरा अदृष्टजन्म-संवेदनीय अर्थात् जो कर्म समूह जन्म-जन्मान्तर में कर्मफल का दाता हुआ करता है, वह कर्माशय अदृष्टजन्म-संवेदनीय कहलाया करता है। वह कर्माशय दो प्रकार का हुआ करता है— (१) पुण्य प्रधान और (२) पाप प्रधान।

पुण्य प्रधान कर्माशय किस प्रकार से दृष्टजन्म-संवेदनीय रूप से प्रचय किया जाता है। उसके प्रकार श्री व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में समझाये हैं। उसमें से जो कर्माशय बड़ी भागी तीव्र लगन के साथ मन्त्र, तप और समाधि के द्वारा निर्मित होता है यह एक प्रकार है और दूसरा प्रकार ईश्वर, देवता, महर्षि आदि महानुभावों की आराधना से तैयार किया जाता है। यह पुण्य कर्माशय बहुत जल्दी अपने कर्मफल का देने वाला हुआ करता है। इसी प्रकार से दूसरा दृष्टजन्म संवेदनीय पाप कर्माशय भी जिसमें मनुष्य अपनी कठोर वृत्ति के प्रभाव से या तीव्रतम पैदा हुए द्वेषों के प्रभाव से भयभीत मनुष्यों में व्याधिजनित मनुष्यों में विश्वासपात्र मनुष्यों में या तपस्वी महानुभावों में मन की कठोरतापूर्वक किया हुआ बार-बार का अपकार इस प्रकार का कर्माशय जल्दी अपने कर्मफल का दाता हुआ करता है। इस बात को श्रीव्यासदेवजी महाराज ने दो उदाहरण दे करके समझाया है। एक उदाहरण है दृष्टजन्म संवेदनीय पुण्य कर्माशय का जैसे नन्दीश्वर एक साधारण मनुष्य था, किन्तु कृपा विशेष को पा करके वह संदेह स्वर्ग का भागी हो गया। दूसरा राजा नहुस, यद्यपि देवताओं का इन्द्र था, किन्तु अगस्त मुनि के श्राप से वह एक एकाएक तिर्यक् योनि को प्राप्त हो गया। इसकी कथा पुराणों में इस प्रकार से मिलती है— मनुष्य लोक का जीव राजा नहूस जब अपने कृतपुण्य के प्रभाव से देवलोकाधिपति इन्द्र बन गया तो उसने अपने क्रोध और अहंकार वश अगस्त्यादिक सप्त ऋषियों को अपनी पालकी उठाकर चलने की आज्ञा दी, ऋषि लोग उस साधारण जीव नहुस की पालकी को उठाकर तो चल ही रहे थे किन्तु नहुस अपने क्रोध और अहंकार वश ऋषियों को बार-बार कहता था कि सर्प-सर्प। सर्प शब्द का अर्थ होता है चलो-चलो जल्दी चलो। ऋषियों को एक साधारण जीव के द्वारा किये हुए अपने अपमान से मन में बहुत ही दुःख हुआ और उस दुःख के उद्वेग को सहन न करके अगस्त मुनि ने उस राजा नहुस को तत्काल श्राप दे दिया कि— अरे नीच तू देवेन्द्र होने लायक नहीं है और हमें सर्प-सर्प कह रहा है तो तू इस ही समय सर्प योनि को प्राप्त हो जा और साधारण कीट पतंगा आदि की तरह से मनुष्य लोक में जाकर गिर जा। यह था राजा नहुस के कठोरतम पाप का तात्कालिक शब्द परिणाम। जिसके फलस्वरूप वह तत्काल ही देवेन्द्र से तिर्यक् योनि सर्पता को प्राप्त हो गया। ये दृष्टादृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय मनुष्य लोक के पाप-पुण्य प्रधान जीवों का ही हुआ करता है। जो जीव नरक में वास करने वाले नारकीय हैं उनका दृष्टजन्म संवेदनीय कर्मांशय नहीं हुआ करता है और जो लोग क्षीणक्लेश हो चुके हैं उनका भी अदृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय नहीं हुआ करता है। यह कर्माशय अर्थात् दृष्टादृष्टजन्म संवेदनीय किस प्रकार से अपने कर्म विपाक को किया करता है उसके तीन प्रकार भगवान पतञ्जलिदेव ने बतलाये हैं।

सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

— साधनपाद १३

अर्थात् क्लेशरूपक जड़ होने पर कर्माशय तीन प्रकार के फलों का दाता हुआ करता है, वह तीन कर्म-विपाक जाति, आयु और भोग के रूप में आया करते हैं। इसमें कौन-कौन कर्म जन्म-जन्मान्तर में किस-किस प्रकार से विषाकारम्भी हुआ करते हैं, उसका वर्णन भगवान व्यासदेव के निम्नांकित रूप से किया है। जिसको पढ़ करके हर साधक यह भली प्रकार से जान जायेगा कि मनुष्यों को कर्म-भोग किस-किस प्रकार से प्राप्त हुआ करते हैं। श्री व्यासदेव जी का भार्षय जिसमें उन्होंने कर्म-विपाक पर बहुत ही उत्तम प्रकार की विचारणा लिखी है, वह इस प्रकार से है—

सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्न-क्लेशमूल। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीत क्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावोवेति। स च विपाकस्त्रिविधो

जातिरा युर्भोग इति। तत्रेदं विचार्य्यते किमेकं कर्मैकस्य जन्मन: कारणम्, अकथं कर्मानेकं जन्माऽऽक्षिपतीति। द्वितीया विचारणाकिमनेकंकर्मानेकंजन्म निर्वर्ययति। अथानेकंकर्मैकंजन्म निर्वर्तयतीति। न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मन: कारणं कस्माद् अनादिकालप्रचितस्यासङ्ख्येयस्यावशिष्टस्यकर्मण: साम्प्रति-कस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्त: स चानिष्ट इति। न वैकं कर्मानेकस्य जन्मन: कारणं कस्माद् अनेकेषु कर्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मन: कारणमित्यवशिष्ट कर्मानेकस्य जन्मन: कारणमित्यवशिष्टस्य विपाक कालाभाव: प्रसक्त: स चाप्यनिष्ट इति। न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मन: कारणम्। कस्मात् तदनेकंजन्म युगपन्न कारणम्। कस्मात् तदनेकंजन्म युगपन्न सम्भवतीति क्रमेणैव वाच्यं। तथा च पूर्वदोषानुषङ्ग: तस्माज्जन्म प्रायणान्तरे कृत: पुण्यापुण्यकर्माशय प्रचयो विचित्र: प्रधानोपसर्ज्जनभावेनावस्थित: प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मरणंप्रसाध्य सम्मूर्छित एकमेव जन्मकरोति तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोग: सम्पद्यत इति। असौकर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत् इति। अत: एकभविक: कर्माशयउक्त इति।

दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वाद् द्वि-विपाकरम्भी वायुर्भोगहेतुत्वाद् नन्दीश्वरबन्नाहुषवद्वा इति। क्लेशकर्मविपाकानुभवनिवर्तिताताभिस्तु वासनाभिरनादिकाल-सम्मूर्छितमिदं चित्तं विचित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थि भिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासना:। यस्त्वयं कर्माशय एष एवैक भविक उक्त इति। यं संस्कारा: स्मृति हेतवस्ता वासना-स्ताश्चानादिकालीना इति।

यस्त्वसावेभविक: कर्माशय: स नियत विपाक-श्चानियतविपाकश्च। तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपा-करयैवायं नियमों न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियत विपाकस्य। कस्माद्, यो ह्यदृष्टजन्म वेदनीयाऽनियत विपाकरतस्य त्रयी गति:। कृतस्याविपक्वरस्य नाश:, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति। तत्र कृतस्याविक्वरूप नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव: नाश: कृष्णस्य यत्रेदमुक्तम्—

द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदिलव्ये पापकृतस्यैको राशि: पुण्यकृतोऽपहन्तितदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैवतेकर्म कवयो वेदयन्ते। प्रधानकर्मण्यावापगमनम्। यत्रेदमुक्तं ''स्यात् स्वल्प: सङ्कर: सपरिहार: स प्रत्यवमर्श:, कुशलस्य नापकर्षायालं। कस्मात् कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति नायमावापं गत: स्वर्गेप्यपकर्षमल्पं करिष्यति इति।

नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्। कथमिति, अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मण: समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तं। न त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येद् आवापं वा गच्छेद् अभिभूत वा चिरमप्युपासीत यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोति इति। तद्विपाकस्यैव देशकाल निमितत्तानवधारणादियं कर्मगतिर्विचित्रा दुर्विज्ञाना चेति। न चोत्सर्गस्यापवादाभिन्नवृत्तिरितिएकभविक: कर्माशयोऽनुज्ञायत इति।13।।

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांचों क्लेश जिस मनुष्य के मन में वर्तमान रहते हैं तभी मनुष्य का कर्माशय कर्मफल के भोग देने में समर्थ वाला होता है और जो कर्माशय जिसके क्लेश-भोग कट चुके हैं, वह कर्माशय कर्मफल का देने वाला नहीं हो सकता। भगवान् व्यासदेव जी उदाहरण देकर समझाते हैं कि जिस प्रकार से तुषों सहित चावल अदग्ध बीजभाव हुआ करते हैं, वही खेती में उपज के लायक हुआ करते हैं और जो चावल दग्ध-बीजभाव वाले हो जाया करते हैं। अर्थात् जिनका छिल्लड़ धानकुटे से कूट-कूटकर उतार दिया जाता है। ऐसे तुषरहित चावल, क्योंकि उनका बीजभाव दग्ध हो चुका है। ऐसे चावल खेती में डाल भी दिये जायें, तो वह कभी भी पैदा नहीं हुआ करते। ठीक इसी प्रकार से क्लेशों से घिरा हुआ क्लेशावलब्ध कर्माशय कर्म-विपाक का देने वाला हुआ करता है न कि नष्ट क्लेश वाला कर्माशय कर्म-विपाक को दे सकता है। इसी प्रकार से जो कर्माशय दग्धक्लेश बीजभाव को प्राप्त हो जाता है, वह कर्माशय कर्मभोग का दाता नहीं हुआ करता। क्लेशमूलक कर्माशय तीन प्रकार से कर्मभोग दिया करता है और वह पहले जाति को देता है, आयु का विधान करता है, उसके बाद कर्मों के भोग को दिया करता है। यहाँ पर एक बात विचार करने योग्य हैं—

१. पहली बात यह है कि क्या एक कर्म एक जन्म का कारण होता है या एक कर्म अनेक जन्मों के जीने का कारण हुआ करता है?

२. दूसरी विचारने योग्य बात यह है, क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों के दाता होते हैं या अनेक कर्म एक ही जन्म में मिट जाया करते हैं?

इसका उत्तर इस प्रकार से है— अर्थात् एक कर्म अनेक जन्मों का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अनादि काल से प्रचय किये हुए कर्म कर्माशय में पड़े रहा करकते हैं। यदि एक ही कर्म अनेक जन्मों के भोग का कारण बनेगा तो बाकी के अनन्त काल से निर्माण किये हुए कर्म बचे रहेंगे। अर्थात् उनका भोग काल आयेगा ही नहीं और ऐसा होने से कर्मकाण्डी लोगों में बड़ा ही अविश्वास पैदा हो जायेगा और लोगों में इस प्रकार का अविश्वास आ जाने से बड़ा भारी अनिष्ट होगा। और इस प्रकार से एक

कर्म अनेक जन्मों के भोग का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि बाकी के अवशेष कर्मों के भोगकाल का अभाव ही रहेगा। इसलिए यह बड़ी ही अनिष्ट की बात है और यदि यह कहा जाये कि अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण होते हैं तो वह भी बात नहीं बन सकती, क्योंकि अनेक कर्मों के फलस्वरूप अनेक जन्म एक साथ नहीं हो सकते। और यह कहा जाये कि उन कर्मों का फल क्रमश: एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा इस प्रकार से बहुत ही लम्बा भुगतान चल पड़ेगा। इसमें भी वही पहले वाली बात सामने आयेगी। इसलिये जन्म-जन्मान्तर में पुण्यापुण्य कर्माशय प्रचय एक प्रधान कर्म के उपसर्जनीभूत (सहयोगी) एक बहुत बड़े कर्म-समूह को मिलाकर के एक ही जन्म का कारण बनता है अर्थात् एक कर्म समुच्चय के अन्दर एक प्रधान कर्म और अनेक कर्मों को साथ लगाकर एक जन्म का कारण बनता है और वह जन्म उस कर्म समुच्चय को साथ लेकर जन्म देने वाला वह कर्म आयु को प्राप्त करता है। उस कर्म से दी हुई उसी आयु के अन्दर, उस ही कर्म के द्वारा कर्म का भोग उपस्थित होता है। अत: यह बात निश्चित हुई कि मनुष्य का वह कर्माशय जन्म आयु और भोग का कारण होने से त्रिविपाक वाला कहा जाता है। इसलिये यह बात निश्चित हो गई कि प्रधान का उपसंर्जनीभूत एक कर्माशय ही एक जन्म का कारण होता है और ऊपर हम जिस दृश्यजन्मसंवेदनीय कर्माशय का वर्णन कर आये हैं वह एक विपाक का कारण होता है— कर्म भोग के कारण और दो विपाक का आरम्भ करता है आयु और भोग के कारण जैसे हम ऊपर जहाँ पर दृष्टादृश्य जन्म संवेदनीय कर्मायियों में नन्दीश्वर और नहुस का वर्णन कर आये। उसी प्रकार यहाँ पर भी है। इस बात को इस प्रकार समझ लें, जिस प्रकार नन्दीश्वर पहले मनुष्य रूप में था और वह कृपा-विशेष से संदेह स्वर्ग को चला गया इसमें उसको दो वस्तु प्राप्त हुईं। १. देवलोक का आयु, २. देवलोक के भोग। इसी प्रकार से राजा नहुस को भी तीन वस्तुयें प्राप्त हुई :— तिर्य्यक योनि का शरीर, उसकी आयु भोग। इस सन्देश को इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि अनन्तकालीन क्लेशकर्म वासनाओं के द्वारा मूर्च्छित किया हुआ यह चित्त चारों ओर से मछली पकड़ने वाले जाल की तरह से घिरा हुआ अनेक जन्मों में होने वाली वासनाओं और संस्कारों के कारण ये कर्माशय एक भवित हुआ और जो संस्कार और स्मृति के कारण हैं, वे सारी की सारी वासनाएँ अनादि कालीन हैं। वह कर्माशय है तो एक ही जन्म का दाता, किन्तु नियत कर्म विपाक और अनियत कर्म विपाक के भेद से दो प्रकार का है। वहाँ पर अदृष्ट जन्म संवेदनीय नियत कर्म विपाक के लिए यह नियम है और अदृश्य जन्म वेदनीय अनियत कर्म विपास के लिए नहीं है। क्योंकि अदृश्य जन्म संवेदनीय कर्माशय अनियत कर्म-विपाक की तीन गतियाँ होती हैं—

१. किये हुए कर्म विपाक का नाश हो जाये अथवा किसी प्रधान तीव्र कर्म के साथ उसका भी भुगतान हो जाये या नियत कर्म विपाक इतना प्रबल हो कि वह कर्म प्रसुप्तावस्था में ही पड़े रहें। इस बात को यूँ समझ लेना चाहिए। कृतकर्म विपाक का नाश जैसे यहीं पर कोई तीव्रतम पुण्य कर्म के भोग काल में वैसे ही नाश हो जाये जैसे प्रकाश के अन्दर अन्धेरा नहीं रहता। इसी प्रकार से पापकर्मों के बारे में भी समझ लेना चाहिये। यदि कोई मनुष्य घोर कर्मों का पाप भोग रहा है, उस काल में यदि कोई छोटा-मोटा पुण्य-कर्म हो जाये, तो उन पाप-कर्मों की अग्नि में जलकर भस्म हो जाया करता है। मुख्य बात तो यह रही, इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि नियत कर्म विपाक प्रधान कर्म से अभिभूत होकर प्रसुप्तावस्था में उभय कर्म बहुत देर तक पड़े रहें। कहने का अभिप्राय केवलमात्र एक है कि अदृष्टजन्म संवेदनीय नियत कर्म विपाक के समान उसके प्रकट करने के कारण मृत्यु को कहा है। इस प्रकार अदृष्टजन्म वेदनीय नियत कर्म विपाक का नहीं और जो अदृष्टजन्म वेदनीय कर्म जिनका अनियमित कर्म विपाकं है, वह खतम हो जाता है या विलीन हो जाया करता है या बहुत देर तक प्रधान कर्म की सहायता चाहने वाला पड़ा रहा करता है। जब तक उसका अभिव्यञ्जक कर्म निमित्त बनकर उसके विपाक को प्रगट नहीं करता, वह कर्म विपाक देशकाल निमित्त को धारण करने से यह कर्मगति बहुत ही विचित्र है और जानी नहीं जा सकती और न ही इसकी उत्सर्ग बिना निवृत्ति ही हो पाती है। भगवान पतंजलिदेव आदेश करते हैं—

ते हलादपरितापफला: पुण्यापुण्य हेतुत्वाद्

—साधनपाद १४

अर्थात् वे कर्म सुख और दु:ख को देने वाले हैं पुण्य और पाप के होने के नाते इन्हीं भावों को भगवान व्यासदेव जी इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

ते जन्मायुर्भोगा: पुण्यहेतुका: सुख-फला अपुण्यहेतुका दु:खफला इति। यथा चेदं दु:खप्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुख-कालेऽपि दु:खमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिन:।।14।।

अर्थात् जन्म, आयु और भोग यदि पुण्यरूप हों तो वे सुखरूप फल के दाता हुआ करते हैं और पाप-फल हो तो दु:ख के दाता हुआ करते हैं। किन्तु कुछ भी हो यह वासना रूप सुख भी योगी के लिए प्रतिकूलात्मक ही है, इसलिये साधक को चाहिये कि योगाभ्यास द्वारा कर्म-विमुक्ति के चरम लक्ष्य निर्बीज समाधि तक अपने आपको ले जाये तभी कर्म-बन्धन से मुक्त हो सकता है। वैसे तो यह नियम है कि लोहे से लोहे का भेदन होता है। लोहे की आरी लोहे को काट डालती है। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण अपनी श्रीमद्भगवद्गीता में आदेश करते हैं कि—

न कर्मणामनारम्भान्नै-
ष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव
सिद्धिं समधिगच्छति।।
न हि कश्चित्क्षणमपि
जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म
सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य
य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा
मिथ्याचारः स उच्यते।।
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा
नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम-
सक्तः स विशिष्यते।।
नियतं कुरु कर्म त्वं
कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते
न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।
(गीता ३/४ से ८ तक)

अर्थात् कोई भी व्यक्ति बिना कर्मों के आरम्भ किये निष्काम कर्मयोगिता को प्राप्त नहीं हो सकता। कर्मों को छोड़कर बैठ जाने से भी सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। संसार में जन्म लेकर कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता। मनुष्य को प्रकृति के वश में होकर स्वभाव से कर्म करने ही पड़ते हैं, कदाचित कोई व्यक्ति कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण करके बैठा रहता है और मन से उन कर्मेन्द्रियों के वासनारूप अर्थ का चिन्तन करता रहता है। वह व्यक्ति मिथ्याचारी कहलाते हैं और इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति मन से इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्मासक्ति को छोड़कर कर्म करता रहता है, वह ठीक हैं। से सब बातें समझाकर भगवान भी अर्जुन की आदेश देते हैं— हे अर्जुन! तुम कर्म तो करो, किन्तु कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर कर्म करो। क्योंकि बिना कर्म किये तो तुम्हारे शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता। आगे चल करके भगवान जनकादि का उदाहरण दे करके अर्जुन को समझाते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धि-
मास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रह मेवापि,
संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्त,
देवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते,
लोकस्तदनुवर्तते।।

अर्थात् वैसे लोक व्यवहार को देखकर भी कर्म करना ही चाहिए, क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो भी आचरण करता है, वही सब आचरण और लोग भी किया करते हैं वह जिस वस्तु को प्रमाण मानता है, उसी को सब लोग भी माना करते हैं। इससे आगे भगवान् अपना उदाहरण दे करके कर्मयोग की निष्कामता को समझाते हुए कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं,
त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्ततव्यं,
वर्त एव च कर्माणि।।
यदि ह्यहं न वर्तेयं
जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते,
मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।
उत्सीदेयुरिमे लोका न,
कुर्यां कर्म चेदहम्।।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामु-
पहन्यामिमा प्रजाः।।
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो,
यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्त-
श्चिकीर्षुर्लोक संग्रहम्।।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि— हे अर्जुन! तीन लोकों में मेरा कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं हैं और न ही कोई ऐसी वस्तु, जिसे मैंने प्राप्त न किया हो, फिर भी मैं कर्म करता रहता हूँ। कदाचित् मैं आलस्य छोड़कर कर्म न करूँ, तो संसार के विनाश का कारण मैं बन जाऊँगा और वर्ण-संकर का कारण बन जाऊँगा, क्योंकि सभी लोक मेरे रास्ते पर चलते हैं, इसलिए जैसे मूर्ख लोग कर्मफल में आसक्ति रखकर कर्म करते हैं। इसी प्रकार विद्वानों को कर्मफल की आसक्ति छोड़कर कर्म करते रहना चाहिए। क्योंकि सभी संसार श्रेष्ठ पुरुषों के पीछे चला करता है। इसलिए मनुष्य को कर्म करते हुए ही निष्काम कर्मयोग को प्राप्त होना चाहिए। जो लोग नियमित रूप से कर्म करते रहते हैं, वह कालान्तर में निष्कामता को जरूर प्राप्त कर जाते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं
कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च
न निरग्निर्न चाक्रियः।।
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं
तं विद्धि पाण्डव।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो
योगी भवति कश्चन्।।
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं
कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव
शमः कारणमुच्यते।।

अर्थात् कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर कर्म करते रहते हैं वही संन्यासी हैं और वही योगी। जो अक्रिय हैं और निरग्नि हैं वहन संन्यासी हैं और न ही योगी ही हैं। हे अर्जुन जिसको संन्यास कहा गया है उसे तुम योग ही जानो क्योंकि जिसने सारे संकल्पों का नाश नहीं किया वह योगी भी नहीं हो सकता। योगारूढ़ होने के लिए पहले मनुष्य को कर्म करना ही पड़ता है और योगारूढ़ हो जाने के बाद वह योगी निर्वाण— परमाशान्ति को प्राप्त हो सकता है। इसलिये साधक को चाहिए कि वह दृश्यजन्मसंवेदनीय नियत कर्म विपाक तो करता रहे किन्तु अपने आपको निरन्तर अभ्यास करते हुए निर्बीज समाधि तक ले जाये जहाँ पहुँचकर कोई मायिक बीज रहता ही नहीं। तभी मनुष्य कर्माशय और अपने भोग से मुक्ति पा सकेगा। ऐसी स्थिति को पाकर मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाया करता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चिद् दुख भाग्भवेत्।।

काम-भाव को दूर करने का एकमात्र उपाय है, पुरुषों के लिए सब स्त्रियों में मातृभाव और स्त्रियों के लिए सब पुरुषों में सन्तान-भाव का पोषण करना। यह भाव न रहने पर पतन की सम्भावना रहेगी ही। काम को संयत किये विना, और ब्रह्मचर्य रक्षा हुए विना, मन स्थिर नहीं होता, ठीक-ठीक एकाग्रता और ध्यानावस्था नहीं आती, और भगवान में रागानुगा भक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

— स्वामी विरजानन्द

योग के भेद, उपभेद और उनकी साधना

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

'योग' शब्द इतना व्यापक एवं महत्वशाली है कि सभी सिद्धान्तवादियों ने इसे अपने हृदय से अपनाया है। भक्ति-योग, ज्ञान-योग, कर्म-योग, राज-योग, लय-योग, हठयोग, शून्य-योग इत्यादि यह सभी शब्द इसकी व्यापकता के परिचायक हैं। इस संसार में जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होगा, जिसको योग की सच्ची जिज्ञासा न हो, किन्तु **''मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना''** की युक्ति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ने इसका अपनी मति के अनुसार अर्थ किया है। जो लोग हृदय प्रधान हैं और ईश्वर की अर्चना-वन्दना आदि के रूप में लक्ष्य प्राप्ति में संलग्न हैं, उन्होंने इसको 'भक्ति-योग' से जो लोग ज्ञान-निष्ठा प्रधान हैं और महावाक्यों का मनन करते हुए भी वेदान्त सिद्धान्तों के अनुसार आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील हैं, उन्होंने ज्ञान-योग के रूप में और जो लोग ईश्वरार्पित बुद्धि से निष्काम भाव से कर्म करते हुए कर्म-बन्धन से छूटकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्होंने इसे कर्म-योग के नाम से अपनाया है। इसके अतिरिक्त योग के व्यापक प्रभाव और महत्ता को देखकर कुछ दम्भी लोगों ने इस शब्द को अपनाकर यक्षिणी पिशाचिनी आदि छोटी-छोटी तामस-राजस शक्तियों की आराधना कर सिद्धियों को पाकर संसार के भोले-भाले प्राणियों को चमत्कार के जाल में डालकर अपनी पूजा कराई और अपने को योगी सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त जिन्होंने योग के कुछ साधनों को कहीं से सीख लिया, उन्होंने योगाश्रम स्थापित कर लिये और केवलमात्र नेतिधौति आदि षटकर्म व आसन बन्ध-मुद्राओं के द्वारा शारीरिक साधनायें ही अपना परमलक्ष्य बना लिया है। इसी प्रकार से बिना अष्टांग-योग की साधना के ही किन्हीं लोगों ने भू-गर्भ, जल-गर्भ आदि समाधियां लगाकर योग के व्यापक शब्द से लाभ उठाया। यह सब योग का वास्तविक अर्थ न समझ पाने या समझकर भी उसकी उपेक्षा करने के कारण हैं।

वस्तुत: ठीक प्रकार से विचार कर देखा जाये तो 'योग' शब्द का अर्थ है मिलाने वाली क्रिया। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार युज् धातु से संन्धानार्थं भाव अर्थ में धम् प्रत्यय होकर योग शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है जुड़ना-मिलना। युज् समाधौ से 'योग' का अर्थ है समाधि।

योगाचार्य भगवान पतंजलिदेव जी ने **'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:'** कहकर योग शब्द को अभिव्यक्त किया। जिसका अर्थ है चित्तवृत्तियों का निरुद्ध होना। **''चितवृत्ति नाम नितरां निरोध:''** अर्थात् चित्तवृत्तियों का नितान्त रुक जाना ही निरोध शब्द का अर्थ है और हमारी शास्त्रीय परिभाषा में निरोध: समाधि **''समाधिर्वै योग:''** अर्थात् समाधि का नाम ही योग है और निरोध को ही समाधि कहते हैं और समाधि शब्द का अर्थ है **''समाधि: समतावस्था जीवात्मा परमात्मनो:''** कहकर हमारे आचार्यों ने जीव और परमात्मा की समस्थिति ही योग समाधि बतलाया है अर्थात् जिस क्रिया को करके जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाये, उसी क्रिया को समाधि कहा गया है। भगवान पतंजलिदेव जी ने यहाँ पर **''योगश्चितवृत्ति निरोध:''** कहकर योग का लक्षण किया, वहाँ उसके साथ ही **''तदाद्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानाम्''** कह करके जीवात्मा का समाधि स्थिति में स्वरूपावस्थित होना स्पष्ट बतला दिया है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यासदेव जी ने बिल्कुल स्पष्ट किया है कि **''स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये''** अर्थात् चितिशक्ति जैसी कैवल्य में होती है वही स्वरूप प्रतिष्ठा का सही अर्थ है। जीवात्मा समाधि में भी कैवल्य की तरह ही स्वरूप प्रतिष्ठ होता है। किन्तु **''योगश्चित्तवृत्ति निरोध:''** इस सूत्र में केवल मात्र चित्तवृत्ति निरोध को योग कहा है न कि सर्व चित्तवृत्ति निरोध को योग कहा है क्योंकि इस सूत्र में सर्व शब्द का ग्रहण नहीं है। इसलिए योग की संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात दोनों ही अवस्थाओ का नाम योग है। इसी कारण से **'वितर्क विचारानन्दास्मितानुगत संप्रज्ञात:'** कह करके संप्रज्ञात योग व **''विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्व संस्कारशेषोऽन्य:''** कह करके असंप्रज्ञात योग का कथन किया है।

संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात समाधि को दूसरेर शब्दों में एकाग्रावस्था व निरोधावस्था कहना चाहिए। सारे संसार के प्राणियों के चित्त ५ अवस्थाओं में विभक्त रहा करते हैं। उनमें से-

१. मूढ़ावस्था के प्राणी—

जिनमें तमोगुण प्रधान रहता है तथा रज और सत्वगुण गौण हो जाया करते हैं। इस अवस्था के वित्त वालों की प्रवृत्ति काम, क्रोध, मोह आदि से आवृत्त रहा करती है और वे आलस्य तन्द्रा से घिरे रहते हैं। किसी भी प्रकार उनकी उदर की पूर्ति होती रहे, इसके अतिरिक्त किसी के हिताहित लोक परलोक से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

२. क्षिप्तावस्था के प्राणी—

जिनमें रजोगुण प्रधान रहता है। तमोगुण व सत्वगुण गौव रहने के कारण इनके मन में चञ्चलता, दु:ख, शोक, चिन्तायें बनी रहती हैं।

लौकिक साधना ही इनका परम लक्ष्य रहता है। सांसारिक कार्य, धन्धे, व्यापार के अतिरिक्त परलोक आदि में इनकी आस्था नहीं होती।

इन लोगों का प्राय: सिद्धांत रहा करता है–

यावज्जीवेत् सुखंजीवेत्,
ऋणं कृत्वा घुतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य,
पुनरागमनम् कुत:।।

अर्थात् मनुष्य संसार में जब तक जीवित रहें उसे सुखपूर्वक जीना चाहिए। ऋण लेकर भी ऐश-आराम करना चाहिए। मृत्यु के बाद शरीर जलकर भस्म हो जायेगा। भस्मी-भूत हुआ वह शरीर फिर नहीं मिलेगा। लोक व परलोक की बातें थोथी हैं। स्वर्ग व अपवर्ग किसने देखा है। इसलिए जो कुछ भी स्वर्ग-अपवर्ग है इसी लोक में है। इस प्रकार का सिद्धान्त रजोगुण प्रधान व्यक्तियों का हुआ करता है। इसके अतिरिक्त तीसरी अवस्था के प्राणी होते हैं।

३. विक्षिप्तावस्था के प्राणी—

जिनमें सत्वगुण प्रधान रहता है, रजोगुण व तमोगुण गौण हो जाया करते हैं। इनके मन में पूर्ण प्रसन्नता, क्षमा, दया, परोपकार की भावना और साधनों में संलग्नता व ज्ञान, धर्म, वैराग्य में पूरी-पूरी अभिरुचि रहती है। इनका मन थोड़ा-थोड़ा एकाग्रता की ओर चलने लगता है तथा शान्त रहता है। ये लोग स्वाध्याय, संकीर्तन, उपासनायें इत्यादि करते हैं, किन्तु एकाग्रता के बिना इस भूमिका के प्राणी योग श्रेणी के नहीं माने जाते हैं क्योंकि इनमें समाधि गौण रहती है, विक्षेप प्रधान रहता है। भगवान वेदव्यासजी ने इस स्थिति में रहने वाले व्यक्तियों के लिए स्पष्ट लिखा है—

तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीत: समाधिनं योग पक्षे वर्तते।

अर्थात् विक्षेपोपसर्जनी भूत समाधि योग पक्ष में नहीं मानी जाती। ये लोग जप, तप, आदि में प्रयत्नशील रहते हैं और ईश्वरानुग्रह की प्रतीक्षा में अपने मन की आश्वासित रखा करते हैं। जब कभी इनके मन में तरंग उठती हैं तो यह कह उठते हैं—

राम नाम रटते रहो,
जब लगि घट में प्रान।
कबहूँ दीनदयाल के,
भनक पड़ेगी कान।।

इन तीन स्थितियों में रहने वाले व्यक्ति 'योगी' शब्द से अभिवाच्य नहीं कहे जाते। योग की वर्णमाला मन की एकाग्रता से आरंभ होती है।

४. एकाग्रतावस्था के प्राणी—

जिनमें सत्वगुण प्रधान रहता है व रजोगुण व तमोगुण मात्र में शेष रहते हैं। इनका मन दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्ण स्ववशीकार संज्ञा-वैराग्यम् हो करके अपर वैराग्य को प्राप्त होता है। मनुष्य का मन बहुत ही अद्भुत शक्तिशाली है, वस्तुत: विचार कर देखा जाये तो प्रभु की सृष्टि के बड़े-बड़े अद्भुत कार्य मन की एकाग्रता से ही सम्पन्न होते हैं। जब तक मन के अन्दर एकाग्रतावस्था का उदय नहीं होता, तब तक हम किसी भी मन्त्र का उच्चारण करते रहें, वह केवल वर्ण-विन्यास मात्र है। र म क च ट ये सब शब्द हैं। शब्द की उत्पत्ति आकाश से होती है और आकाश में ही उसका विलय हो जाया करता है। राम-नाम का उच्चारण करके तब तक हम कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते जब तक श्रीराम के रूप में हमारा मन एकाग्र न हो जाये। इसीलिये भगवान पतञ्जलिदेव जी ने ईश्वर के मुख्य नाम 'ॐ' का वर्णन करते हुए **''तज्जपस्तदर्थ भावनम्''** अर्थात् उसके नाम का जाप करना और अर्थ का ध्यान करना। ये दोनों क्रियाएँ साथ होने पर ही मनुष्य नाम जप आदि के शुद्ध परिणाम को पा सकता है। क्योंकि मन बहुत चंचल है, मन की चंचलता को जगदात्मा अखिल लोकनायक भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने स्वयं स्वीकार किया है—

असशयं महाबाहो,
मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय,
वैराग्येण च गृह्यते।।

अर्थात् हे अर्जुन अवश्य ही मन बहुत चंचल है और वह अभ्यास व वैराग्य के द्वारा नियन्त्रण में लाया जा सकता है। मन की शक्ति को जब तक हम नहीं जान सकते जब तक वह एकाग्र नहीं हो जाता। हमारे आचार्यों ने मन को ज्योतियों की भी परम ज्योति माना है। किन्तु उसकी शक्ति को एकाग्र होने के बाद ही हम जान सकते हैं। जिस प्रकार से तीव्र गति से चलने वाले बिजली के पंखे को हम केवल एक गोल चक्र ही देखते है, और जब वह रुक जाता है तो उसकी तीनों पंखड़ियाँ अलग-अलग दिखलाई देने लग जाती हैं। इसी प्रकार मन को एकाग्र करके ही उसके अन्दर छिपे हुए रहस्यों को हम जान सकते हैं अत: मन की एकाग्रतावस्था को हमारे योगाचार्यों ने समाधि पक्ष में माना है और इसी को संप्रज्ञात योग कहा गया है। संप्रज्ञात योग के विषय में भगवान् व्यासदेव ने अपने भाष्य में ये शब्द लिखे हैं–

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूत्यार्थ प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान् कर्म बंधनानि श्लथयति। निरोधमभिमुखं करोति, स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।

अर्थात् जो एकाग्रचित में अद्भुत अर्थ को प्रकट करता है और क्लेशों को क्षीण करता है और कर्म बन्धनों को ढीला करता है, तथा चित्त को निरोधाभिमुख करता है, उसको संप्रज्ञात योग कहते हैं। इसलिए संप्रज्ञात योग में क्योंकि मन की एकाग्रता होती है और विभिन्न प्रकार की अनुभूतियां हुआ करती हैं तथा मन की शक्तियां प्रकट होती रहती हैं,

इसीलिए इसको संप्रज्ञात योग कहा है। इससे आगे पांचवीं स्थिति के प्राणी निरोधावस्था के प्राणी कहलाते हैं।

५. निरोधावस्था के प्राणी—

जिनमें बाहर से गुणों का परिणाम बन्द होकर चित्त सत्व में निरोध परिणाम संस्कार मात्र से शेष रह जाता है, वे दृष्टा अपने में स्थित हो जाते हैं। ऊपर वर्णन की गयी पांचों प्रकार की अवस्थाओं में केवल मात्र एकाग्रतावस्था व निरोधावस्था को ही योग श्रेणी में लिया है। संसार का कोई भी प्राणी किसी प्रकार की साधनाएँ करता रहे जब तक मन में एकाग्रता का उदय न हो तब तक उसका योग में प्रवेश नहीं माना जा सकता। भगवान् पतञ्जलिजी ने

यमनियमास न प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टवङ्गानि।

कह करके योग का वर्णन किया है। अङ्ग-अङ्गी से अलग नहीं होते। इस विचार से अष्टाँगयोग के किसी भी एक अङ्ग का पालन करने वाला भी योग का विद्यार्थी तो है ही।

इनमें से यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार ये पांच अङ्ग धारणा, ध्यान व समाधि की अपेक्षा बहिरंग हैं व धारणा, ध्यान, सम्प्रज्ञात समाधि, असम्प्रज्ञात की अपेक्षा बहिरंग हैं। भगवान पतंजलिदेव जी के शब्दों में किसी एक पर चित्त को बांधना धारणा कहलाती है। 'देशबंधश्चितस्य धारणा' से ही सम्प्रज्ञात योग का श्रीगणेश होता है। धारणा सिद्ध हो जाने पर मन के अन्दर योग में प्रवेश की योग्यता हो जाती है। धारणा की सिद्धि से प्राप्त हुई योग्यता वाले मन की वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। सम्प्रज्ञात योग का अभ्यासी योगी अपने प्रथम अभ्यास में वितर्कानुगत योग का अभ्यास करता है, उसमें वह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन पांच महाभूतों का व शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनके गुणों का प्रत्यक्ष करता है। इस वितर्कानुगत योग में पञ्चभूत व पञ्च-भूतों से होने वाले सब विस्तार का और इनके सब विषयों को पूर्ण प्रत्यक्ष करता है। साधक अपने अभ्यास में पृथ्वी तत्त्व में पहाड़, सुरम्य, वन, उपवन में नाना प्रकार की दिव्य सुगन्धों का अनुभव करता है और जल तत्त्व में नाना प्रकार के समुद्र और रसों का अनुभव करता है। अग्नि तत्त्व में अनेक विधि ज्वालाओं और महान् दिव्य रूपों का अनुभव करता है। वायु तत्त्व में दिव्य स्पर्शों का अनुभव करता है व आकाश तत्त्व में शून्य आकाश व आकाश से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के शब्दों को सुनता है। इस वितर्कानुगत योग के सवितर्क और निर्वितर्क ये दो अलग भेद हैं। उसमें सवितर्क समाधि—

तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः 'संकीर्ण सवितर्की' समापत्तिः।

अर्थात् वितर्कानुगत में जिस समाधि में शब्द, अर्थ और उसका ज्ञान मिला हुआ सा होने पर बराबर अलग-अलग भाषित होते रहें वह सवितर्क समाधि कहलाती है एवं उसका अभ्यास करते-करते चित्त ध्येयाकार हो जाये व शब्द, अर्थ, ज्ञान न रहे तब वह निर्वितर्क समाधि कहलाती है। इस विषय को इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जैसे साधक के ध्यान में एक गाय है। गाय एक शब्द है और लम्बे गले वाली, दो सींगों वाली, सफेद रंग, चार पैरों वाली गाय एक पशु है। यह ज्ञान होना चाहिए कि वह एक गाय है, यही ज्ञान है। ये तीनों शब्द, अर्थ और ज्ञान एक विषयक होते हुए भी अलग-अलग समझ में आते हैं। ऐसी स्थिति का नाम सवितर्क समाधि है। जिसमें साधक का मन ध्येयाकार बन जाये व शब्द, अर्थ, ज्ञान अलग-अलग अनुभव न आकर अर्थमात्र भाषित होता रहे वह निर्वितर्क समाधि है।

स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का।

विचारानुगत योग निवितर्क समाधि की पराकष्ठा में पहुँच जाने के बाद मनुष्य का मन सूक्ष्म विषयों में प्रवेश करता है। अभी तक वितर्कानुगत योग में उसने स्थूल महाभूतों का और उनके विषयों का प्रत्यक्ष किया था। किन्तु अब विचारानुगत योग में महाभूतों की अपेक्षा उनके सूक्ष्म तन्मात्र का प्रत्यक्ष करता है। जैसे वितर्कानुगत समाधि में स्थूल महाभूत आकाश व उसके गुण शब्द का अनुभव किया था, उस विचारानुगत में सूक्ष्म आकाश या शब्द तन्मात्र का अनुभव करेगा व इसी प्रकार वायु में सूक्ष्म वायु तत्व का या स्पर्श तत्व का तन्मात्र, अग्नि में सूक्ष्म जल तत्व या रस तन्मात्र का, पृथ्वी में सूक्ष्म पृथ्वी या गन्ध तन्मात्र का अनुभव करेगा। इसके साथ दस इन्द्रियों का मन, बुद्धि, अहंकार का प्रत्यक्ष करेगा। इसी प्रकार इन सूक्ष्म विषयों में होने वाली समाधि का नाम सविचार समाधि है। जिस प्रकार वितर्कानुगत समाधि के सवितर्क और निर्वितर्क के दो भेद हैं।

इसी प्रकार विचारानुगत समाधि में १. सविचार, २. निर्विचार दो भेद हैं सूक्ष्म विषय की सीमा प्रधान अलिंग तक है।

सूक्ष्म विषयत्वं चालिङ्ग पर्यवसानम्

जैसे हमने किसी भी तन्मात्रा का सूक्ष्म ध्यान आरम्भ किया, उसका अनुभव देश, काल व निमित से सीमित अनुभव होता रहे व ध्याता, ध्यान तीनों अलग-अलग भाषित होते रहें तब इसका नाम सविचार समाधि है एवं जिस समाधि में ध्येय 'विषय' देश, काल व निमित्त से सीमित न दिखलाई दें, तो वह निर्विचार समाधि कहलायेगी। इस विचारानुगत योग में मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है और सूक्ष्मता की परिधि को पहुँच जाता है। क्योंकि योगी इसमें सूक्ष्म मन का, सूक्ष्म इन्द्रियों का, सूक्ष्म बुद्धि का एवं अहंकार का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है। इसलिये इसमें दैविक शक्तियों का विकास हो जाता है। इस स्थिति के योगी को दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, दूर-स्पर्शन आदि ज्ञात होने लगता है। इसके साथ-साथ सूक्ष्म देव लोकादि भी अनुभव में आने लगते हैं और उन सब मायिक स्थानीय देवताओं को देखकर भी योगी अपने आपको इन सबसे उत्कृष्ट देखता है व बुद्धि के आमोद-प्रमोद आह्लादि सूक्ष्म विषयों को प्रत्यक्ष करता है और अपने आपको पूर्ण आनन्दमय देखता है। ऐसी स्थिति में देव लोग अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। उस समय योगी को बहुत सचेत होकर रहने की आवश्यकता है। भगवान पतंजलिदेव जी की आज्ञा है कि—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरमिष्ट प्रसङ्गात्।

यह चारों प्रकार की समाधियां सबीज कहलाती हैं। यहाँ तक कि संसार का बीज बना रहता है। मनुष्य संसार से परे नहीं हो पाता, इसलिये स्थूलार्थ में सवितर्क और निर्वितर्क एवं सूक्ष्मार्थ सविचार, निर्विचार समाधियां सबीज हैं। किन्तु निर्विचार समाधि ज्यों-ज्यों बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी स्थिति निर्मल बनती चली जाती है। पुरुष प्रकृति पर्यन्त सब सूक्ष्म स्थूल पदार्थ शीशे की तरह चमकते हुए दिखाई देने लगते हैं—

निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्म प्रसादः

निर्विचार समाधि की निर्मलता में योगी का स्फुटप्रज्ञा लोक लोता है।

प्रज्ञाप्रासादमारूढ्य,

अशोच्यः शोचतो जनान्।

भूमिष्ठानिव शैलस्थः,

सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति।।

ऐसी स्थिति में योगी सब चिन्ताओं से रहित होकर सांसारिक प्रवाह में बहते हुए प्राणियों को इस प्रकार देखता है, जिस प्रकार पहाड़ पर खड़ा होकर मनुष्य जमीन वालों को देखा करता है। इस स्थिति में समाधिस्थ योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। उस समय योगी जो कुछ भी देखता है सत्य देखता है। इस बुद्धि का विषय श्रुत और अनुमान से बहुत आगे का होता है। इसके संस्कार अन्य संस्कारों को रोक देते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धि के आमोद-प्रमोद विषयों में ज्योंहीं योगी संयम करता है, त्योंही अपने आपको आनन्दमय देखने लगता है। यही है सम्प्रज्ञात समाधि की तीसरी स्थिति आनन्दानुगत समाधि की गति। इसी प्रकार पुरुष की दृक्-शक्ति और बुद्धि की दर्शन-शक्ति जब तक एक रूप में भाषित है और उसमें योगी संयम करता है, तब वह अस्मितानुगत योग को प्राप्त होता है। इस अस्मितानुगत योग में पुरुष की दृक्-शक्ति और बुद्धि की दर्शन-शक्ति, क्योंकि एकाकार भासित होती है, इसलिये इसको जड़-चेतन की गांठ कहा गया है। विवेक ख्याति के द्वारा ही स्फुट प्रज्ञा लोक हो जाने के बाद विवेक ख्याति से ही जड़-चेतन की गांठ खुल जाती है और ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा अन्य संस्कारों का प्रतिरोध हो जाने के बाद निर्बीज समाधि को योगी प्राप्त करता है, यही परम पुरुषार्थ है। निर्बीज समाधि प्राप्त करने के लिये मनुष्य को किन-किन उपायों का अवलम्ब लेना पड़ता है? इसके विषय में यद्यपि शास्त्रों के बहुत से मत हैं। जिनके विषय में हम आगे चलकर वर्णन करेंगे किन्तु भगवान पतंजलिजी ने इस विषय में दो सूत्रों की रचना की है—

1. भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।

2. श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्।

इन सूत्रों के अनुसार संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों को इसे योग की प्रतीति दो ही प्रकार से होती है। उनमें—

१. पहले प्राणी वे हैं, जो अपने जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से सम्प्रज्ञात योग की वितर्क और विचारादि समाधि में पूर्णतः प्रविष्ट हो चुके हैं और बाद में अभी समाधि तक नहीं पहुँच पाये थे। अभी तक उनकी विवेक ख्याति नहीं हुई थी। इतनी अवस्था में ही उनका देह-पात हो गया। ऐसे योगी दो प्रकार के होते हैं। उनमें से (१) विदेह, (२) प्रकृतिलीन।

(१) विदेह— विदेह वे कहलाते हैं, जो वितर्क समाधि द्वारा स्थूल महाभूतों का और उनके विषयों का पूर्ण साक्षात्कार कर चुके हैं, इसलिए वह शरीर की यथार्थता को समझ करके देहाभिमान से शून्य हो चुके हैं और इतनी साधना के बाद उनका शरीर छूट गया और वह सम्प्रज्ञात की आगे की सीढ़ियों तक नहीं पहुँच सके। अतः ये लोग विदेह कहलाते हैं और देव-कोटि में माने जाते हैं।

(२) प्रकृतिलीन— वे योगी हैं जो स्थूल महाभूतों और उनके गुणों का पूर्ण साक्षात्कार करते हुए निर्विचार समापत्ति से पंच तन्मात्र अहंकार और महतत्त्व और प्रकृति का साक्षात्कार कर चुके हैं। अभी तक प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्त्वों का साक्षात्कार करते हुए इन्हीं में लीन रहे हैं। आगे की भूमिकाओं को तय नहीं कर पाये, अचानक देहपात हो गया। इसलिये ये लोग प्रकृतिलीन कहलाते हैं। ये भी प्राणी देव-कोटि में माने जाते हैं, इसलिए भगवान व्यासदेव जी ने इन लोगों के लिए—

विदेहानां देवानां भव-प्रत्ययः तेहि स्वसंस्कार मात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्य पदमिवानु भवन्तः। स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीय, महिवाह, यन्ति तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्य पदमिवानु भवन्ति यावन्निपुनरावर्ततेऽधिकार वशाच्चित्तमिति।

कैवल्य पदमिवानुभवन्ति कह करके भगवान व्यासदेव जी ने इनको मुक्ति पद में तो नहीं माना, किन्तु मोक्ष जैसी स्थिति के ये लोग प्रकृतिलीन होते हुए भी मोक्षपद जैसा अनुभव करते हैं, क्योंकि अभी इनका ग्रन्थि-भेद नहीं हुआ अर्थात् विवेक-ख्याति को प्राप्त नहीं हुए इसलिए इनका चित्त साधिकार है और अधिकारवश इन लोगों का संसार में जन्म होता है, क्योंकि पिछले जन्म-जन्मान्तरों में इनकी योग में ऊँची प्रगति रही थी। इसलिये बहुत लम्बे समय तक ये विदेह प्रकृतिलीन रहते हुए भी अपने आपको मुक्त आत्माओं की तरह अनुभव करते रहे थे। बुद्धि आह्लाद आमोद प्रमोद आदि विशेष भावों में लीन हुए अपने आपको आनन्द, मग्न, मोक्ष, रूप देखते रहते थे। किन्तु विवेक ज्ञान के हुए बिना इनका चित्त साधिकार है, इसलिए इन्हें संसार में दुबारा जन्म लेना पड़ता है और जन्म से ही इनको पूर्व जन्म-जन्मान्तरों में जो अभ्यास किया था, उसकी प्रतीति होने लगती है और फिर उस स्थिति को पा करके जल्दी ही अपने पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इन लोगों को कुछ हानि नहीं हुई, क्योंकि ये लोग विदेहावस्था में व प्रकृतिलीनावस्था में परमानन्द में रहें व जन्म लेने पर अनेक जन्मों में किया हुआ अभ्यास सामने आया और पुनः उसी योग-समाधि में प्रवृत्त हो गये।

इसी प्रकार योग के क्रम को समझकर अभ्यास करने वाले व्यक्ति समय पाकर के योग संसिद्ध पुरुष हो जाया करते हैं।

सम्यक् ज्ञान का साधन योग

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

इससे पहले लेख में यह भली प्रकार से समझा दिया गया है कि—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

अर्थात् दृष्टा जीवात्मा और दृश्यत्वेन बुद्धि इन दो का अनादिकाल से बना हुआ संयोग ही दुःखों का कारण है। यदि साधक दृष्टा और दृश्य के इस सम्बन्ध से किसी प्रकार से, किन्हीं साधनों के उपयोग से यदि अपने आपको छुड़ा लेता है तो वह अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होकर अभय पद को प्राप्त कर लिया करता है। भगवान पतञ्जलिदेव बतलाते हैं कि—

तस्य हेतुरविद्या।

उस सम्बन्ध का मूल कारण अविद्या है। इस अविद्या के कारण ही यह जड़ और चेतन की गांठ बनी हुई है। इस ही गाँठ को अज्ञान ग्रन्थि एवं हृदय ग्रन्थि के नाम से पुकारा जाता है। इस ही गाँठ के कारण जीवात्मा अपने स्वरूप को भूलकर बुद्धेय प्रति संवेदी बन गया। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझाने के लिए अपने योग-दर्शन के साधन पाद के बीसवें सूत्र में भगवना पतञ्जलिदेव लिखते हैं—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

अर्थात् दृष्टा जीवात्मा केवल दृशिमात्र है किन्तु फिर भी बुद्धेय प्रति-संवेदी होने के कारण प्रत्ययानुपश्य है। इस सूत्र पर पढ़िये श्री व्यासदेव जी का स्पष्टीकरण—

दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणा परामृष्टेत्यर्थः स पुरुषो बुद्धेः प्रति संवेदी। स बुद्धेर्न स्वरूपो नात्यन्तं विरूप इति। न तावत्सरूपः। कस्माद् ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परिणामिनी हि बुद्धिः तस्याश्च विषयो गवादिघटादिर्वा ज्ञातश्चज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति। सदाज्ञातविषयत्वन्तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति। कस्माद नहि बुद्धिश्च नाम पुरुषविषयश्च स्याद् गृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदा ज्ञात विषयत्वम्, ततश्चापरिणामित्वमिति। किञ्च परार्था बुद्धिः सहकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति तथा सर्वार्थाध्यवसाय कत्वात्, त्रिगुणा बुद्धिः त्रिगुणत्वादचेतनेति। गुणानांतूपद्रष्टा पुरुष इति अतो न सरूपः। अस्तु तर्हि विरूप इति, नात्यन्त विरूपः। कस्मात् शुद्धोऽशुद्धो अप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो, यतः प्रत्ययं बौद्ध मनुपश्यति तमनुपश्यन्नकदात्माऽपि तदात्मक इव प्रत्यवभासते। तथा चोक्तम्- अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रह रूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्याविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते।

अर्थात् दृष्टा जीवात्मा केवल मात्र दृग शक्ति ही है। किसी भी विशेषण से बिल्कुल ही अपरामृष्ट है। इसलिये वह जीवात्मा बुद्धि का प्रति संवेदी तो है ही है किन्तु बुद्धि का बिल्कुल स्वरूप नहीं है और न ही अत्यन्त विरूप है। अत्यन्त विरूप भी नहीं है और अत्यन्त स्वरूप भी नहीं है। क्योंकि बुद्धि ज्ञाता ज्ञात विषय वाली होने से परिणामिनी कहलाती है। उस बुद्धि का विषय गवादि चेतन और घटादि अचेतन दोनों प्रकार का ज्ञान और अज्ञान होने से बुद्धि के परिणामित्व को बतलाया है और सदा ज्ञातविषयत्व का होना पुरुष अर्थात् जीवात्मा के अपरिणामित्व को प्रगट करता है। बुद्धि की तरह से पुरुष कभी ग्रहीता और कभी अग्रहीता नहीं होता। इससे पुरुष अर्थात् जीवात्मा का ज्ञातविषयत्वं सिद्ध हो गया। इसके अतिरिक्त बुद्धि परार्था है क्योंकि पुरुष के योग से ही बुद्धि काम कर सकती है। पुरुष के सम्बन्ध के बिना बुद्धि का जड़त्व होने से अपनी कोई कार्याकरण शक्ति नहीं होती, क्योंकि बुद्धि त्रिगुणात्मिका है और त्रिगुणात्मिका होने से अचेतन अर्थात् जड़ भी है और पुरुष अर्थात् जीवात्मा गुणों का केवल दृष्टामात्र है। इसलिये न ही स्वरूप है और न ही विकल्प है और न ही अत्यन्त विरूप है। क्योंकि वह पुरुष प्रत्यानुपश्य अर्थात् बुद्धिबोध को देखने वाला है। क्योंकि यह बोधों को देखने वाला है। इसलिए तदानुकत्त्वेन भासित होता है। इसलिए कहा गया है—**''चितशक्ति अपरिणामिनी और अप्रतिसंक्रमा''** तो यथार्थ में है ही है किन्त फिर भी क्योंकि यह बुद्धि-वृत्तियों का अनुपतन करती है इसलिये बुद्धि वृत्तियों का अनुपतन करती है इसलिये बुद्धि वृत्तियों के साथ मिली हुई चितशक्ति दिखलाई देती है। इस सूत्र के अन्दर भगवान पतञ्जलिदेव ने जीवात्मा के स्वरूप को भली प्रकार से खोल करके समझा दिया। ठीक इन ही भावों को आनन्दकन्द भगवान कृष्णचन्द्र अपनी श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए इस प्रकार से समझाते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।
वेदाविनाशिनं नित्यं
य एनमजमव्ययम्।

कथं स पुरुष: पार्थ कं

घातयति हन्तिकम्।।

अर्थात् ये जीवात्मा न कभी जन्मता है न कभी मरता है, न कभी हुआ है न कभी आगे होगा यह सदा ही अजन्मा और नित्य शाश्वत और पुरातन है। शरीरों के मारे-काटे जाने पर मारा काटा नहीं जाता। जो इसको अविनाशी और अव्यय जानता है वह कौन पुरुष किसको मारता है। प्रत्युत—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम-

क्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्य: सर्वगत: स्थाणुर-

चलोऽयं सनातन:।।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम-

विकार्योऽयबुच्यते।

तस्मादेवं विदित्वेन

नानुशोचितुमर्हसि।।

अर्थात् यह जीवात्मा अच्छेद्य अर्थात् कभी काटा नहीं जा सकता। अदाह्य कभी जलाया नहीं जा सकता। अक्लेद्य अर्थात् कभी भिगोया नहीं जा सकता। अशोष्य अर्थात् कभी सुखाया नहीं जा सकता। यह नित्य सनातन है। सर्वगतं स्थाणु एवं अचल है। अव्यक्त अचिंन्त्य एवं अविकारी कहा जाता है। इसलिये आत्मा के इस प्रकार के स्वरूप को घिन्ता का विषय नहीं रहता। इस जड़ और चेतन की ग्रंथि को बना देने वाली केवल मात्र अविद्या है।

यदि अविद्या-जनित जड़ और चेतन की गाँठ टूट जाये तो पुरुष जीवात्मा कैवल्यभावी हो जाया करता है। उसी भाव को स्पष्ट करते हुए भगवान पतञ्जलिदेव लिखते हैं कि—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशे: कैवल्यम्।

अर्थात् उस अविद्या के अभाव हो जाने पर बुद्धि और पुरुष के संयोग का भी अभाव हो जाता है। इसी का नाम हान है और संयोगाभाव हो जाने पर दृग शक्ति अर्थात् जीवात्मा कैवली भाव को प्राप्त हो जाया करता है। इस सूत्र पर पढ़िये श्री व्यासदेवजी के विचार-

तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुष:- संयोगाभाव आ-त्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थ:। एतद् हानं, तद्दृशे: कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभाव:, पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थ:। दु:खकारण-निवृत्तौ-दु:खोपरमो हानं तदा स्वरूपप्रतिष्ठ: पुरुष इत्युक्तम्।

अर्थात् उस अविद्या वृत्ति का अभाव हो जाने पर बुद्धि और पुरुष के संयोग का भी अभाव हो जाता है और बुद्धि व पुरुष के संयोग का अभाव हो जाने पर अभी तक जो जड़ चेतन की गांठ का सम्बन्ध जुड़ा हुआ था वह टूट जाता है। यही चित-शक्ति का कैवल्य लाभ है और अभी तक जो बुद्धि और पुरुष का मेल दिखलाई पड़ रहा था वह ऐसी स्थिति में बिल्कुल नहीं रहता और गुणों के साथ इसका पुन: संयोग नहीं होता। दु:ख-कारण की अत्यन्त निवृत्ति हो जाने के बाद दु:खों की उपरामता का नाम ही हान है। और यही जीवात्मा की स्वरूप प्रतिष्ठा कहलाती है और इस ही का नाम विवेकख्याति कहा गया है। भगवान पतञ्जलिदेव विवेकख्याति को ही हान का उपाय बतलाते हुए इस प्रकार लिखते हैं—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय:।

अर्थात् प्लवन रहित विवेकख्याति ही इस बुद्धि और पुरुष के संयोग विच्छेद रूप हान का उपाय है। विवेक ख्याति का स्पष्टीकरण श्री व्यासदेव जी के शब्दों में इस प्रकार है-

सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्याति: सा त्वनिवृत्त-मिथ्याज्ञाना प्लवते। यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं बन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते तदा विधूतक्लेशरजस: बन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते तदा विधूतक्लेशरजस: सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्या वशीकारसञ्ज्ञायां वर्त्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति, सा विवेक-ख्यातिरविप्लवा हान स्योपाय:, ततोमिथ्याज्ञानस्य दग्धबीज-भावोपगम: पुनश्चाप्रसव इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति।

अर्थात् प्रकृति और पुरुष की अन्यता रूप जो पृथक-पृथक ज्ञान है, जिस ज्ञान में हृदय की ग्रन्थि खुल जाया करती है। पुरुष अर्थात् जीवात्मा अपने स्वरूप में विकार-रहित स्थिति में आ जाया करता है और प्रकृति अपने जड़ धर्मो का आश्रय ले करके पुरुष से अलग होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है तब इसका ही नाम विवेकज्ञान अर्थात् विवेकख्याति है और वह विवेकख्याति यदि उसका मिथ्या ज्ञान पूर्णरूपेण निवृत्त नहीं हुआ है तो गिर जाया करती है। इसके अतिरिक्त यदि उसका मिथ्या ज्ञान दग्ध बीज भाव को प्राप्त हो जाता है। (जिस प्रकार से जो बीज भून या जला दिये जाते हैं वह यदि बोये जायें तो कभी भी पैदा नहीं हुआ करते हैं क्योंकि उनकी जनन शक्ति जल चुकी है।) इस ही प्रकार से जो मिथ्या ज्ञान विवेक ख्याति से पूर्व साधक के हृदय में रहा करता है वह यदि दग्धबीज भाव की तरह से प्रसव शक्ति रहित हो चुका है और योगी का मन बिल्कुल सब प्रकार के क्लेशों और रजोगुण के भावों से परे होकर परम वैशारद्य (परम निर्मलता) को प्राप्त करके वशीकार संज्ञा को प्राप्त कर लेता है तभी उस योगी का विवेक ज्ञान प्रवाह बिल्कुल निर्मल हो जाता है। वह विवेकख्याति कभी भी गिरा नहीं करती। यह विवेकख्याति ही हान का परम उपाय है। इस विवेकख्याति को प्राप्त करके मिथ्या-ज्ञान का दग्धबीजभाव उत्पन्न हो जाया करता है। और दग्ध-बीज भाव हो जाने पर उसका पुन: प्रसव बिल्कुल भी नहीं हो पाता। यही मुक्ति का मार्ग है। और अविद्या के अभाव हो जाने पर बुद्धि और पुरुष के संयोग का परम अभाव हो जाना ही हान है। ऐसी स्थिति में आकर के ही जीवात्मा मुक्ति को प्राप्त हुआ करता है। योगी को ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद उसकी प्रान्त-भूमि प्रज्ञा सात प्रकार से विकसित हुआ करती है। इस विषय में भगवान पतञ्जलिदेव इस प्रकार लिखते हैं—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमि: प्रज्ञा।।27।।

अर्थात् उसकी प्रान्तभूमि प्रज्ञा सात प्रकार की होती है। उसको श्री व्यासदेव जी महाराज अपने भाष्य में इस प्रकार स्पष्टीकरण करते हैं।

तस्येति प्रत्युदितख्याते: प्रत्याम्नाय, सप्तधेति अशुद्ध-ख्यावरणमलापगमाच्चितस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्र-कार्रव प्रज्ञा विवेकिनो भवति। तद्यथा परिज्ञातं हेयं नास्य पुन: परिज्ञेयमस्ति। क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति। साक्षात्कृतं निरोध समाधिना हानम्। भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय: इत्येषा चतुष्टयो कार्य्या विमुक्ति: प्रज्ञाया:। चित्तविमुक्तिस्तुत्रयी चरिताधिकारा बुद्धि: गुणा गिरि शिखरतटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थाना:। स्वकारणे प्रलयाभिमुखा: सह तेनास्तंगच्छन्ति। न चैषां विप्रलीनानां पुन-रस्त्युत्पाद: प्रयोजनाभावादिति। एतस्यामवस्थायां गुण-संबंधातीत: स्वरूपमात्रज्योतिरमल: केवली पुरुष: इति। एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन् पुरुष: कुशल इत्याख्यायते। प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्यमुक्त: कुशल इत्येव भवति गुणा-तीतत्वादिति।।27

अर्थात् उस प्रत्युदित ख्याति को सप्तधा प्रान्त भूमि प्रज्ञा इस प्रकार की हुआ करती है क्योंकि उसका अशुद्धि रूप मल का आवरण खतम हो जाता है और उस आवरण के खतम हो जाने पर योगी अपने मन में यह शुद्ध विचार करने लगता है। इस ही को सप्तधा प्राप्त भूमि प्रज्ञा कहा जाता है। योगी अपने मन में निश्चय करता है और कहता है कि सब प्रकार के हेय दु:खों को मैंने जान लिया है। इनको अब दुबारा जानने की आवश्यकता नहीं। हेयता के कारण क्षीण हो चुके हैं। अब इनको दुबारा क्षीण करने की कोई आवश्यकता नहीं रही है। निरोध समाधि के द्वारा मैंने हान का साक्षात्कार कर लिया है और विवेक ख्याति के द्वारा हान का पूर्ण उपाय समझ लिया है। जब योगी के मन में ये चारों प्रकार के भाव पूर्णरूपेण उदित होते हैं, इनको कार्याविमुक्ति के नाम से कहा गया है और आगे कहे हुए तीन प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञाओं में चित्तविमुक्ति नाम की तीन प्रकार की बुद्धि होती है। उसमें से सबसे पहले योगी विचार करता है कि अब मेरी बुद्धि के अधिकार खतम हो चुके। जिस प्रकार कि पहाड़ के शिखर पर से गिरा हुआ कोई पत्थर भूमि पर आकर के निरवस्थान हो जाता है। इसी प्रकार से मेरे भी गुणों का गुणों में अवस्थान हो चुका है। अब इनका दुबारा उत्पन्न होना सम्भव नहीं। क्योंकि अब गुणों के प्रयोजनों का बिल्कुल अभाव हो गया है। जब इनका कोई प्रयोजन रहा ही नहीं तो इनकी पुन: प्रवृत्ति का कारण ही खतम है। ऐसी अवस्था में प्राप्त हुआ योगी गुणातीत हो करके स्वरूपमात्र से अपने आपको विशुद्ध अमल ज्योतिरूप देखता है, यही उस योगी का केवलभाव है। ऐसी अवस्था में गया हुआ योगी, क्योंकि वह अब गुणातीत हो चुका है और उसके चित्त के प्रति प्रसव धर्म खत्म हो चुके हैं, वह कुशल कहलाता है। ऐसी स्थिति को प्राप्त करने वाले योगी जिनके अन्दर ऋतम्भरा प्रज्ञा का पहले से ही प्राकट्य था, वह चरम देह हो जाया करते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार और संस्कारों को तौ पैदा होने ही नहीं देते थे, क्योंकि वह ऋतम्भरा प्रज्ञा श्रुतानुमान आदि प्रज्ञाओं से आगे की थी। ऐसी स्थिति को प्राप्त हुआ योगी बिल्कुल अमल-ज्योति हो करके अपने आपको मुक्त भाव से देखता है। यहाँ आ करके प्रकृति पुरुष विवेक पूर्णरूप से प्राप्त हो जाया करता है। जिसका संकेत भगवान पतंजलि देव ने **''योगश्चित्तवृत्ति निरोध:''** कह करके योग दर्शन के प्रारम्भ में ही कर दिया है। अर्थात् चित्त-वृत्तियों का समोलोन्मूलन ही योग कहलाता है। इस स्थिति को पा करके ही योगी स्वरूप प्रतिष्ठत हुआ करता है और पूर्णरूपेण विवेक ज्ञान को प्राप्त हो जाने के बाद कैवलीभाव को प्राप्त हो जाया करता है। यहाँ आकर के ही योगी के मन में तारक विवेक ज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है। भगवान पतंजलिदेव ने उसके स्वरूप का वर्णन इस प्रकार से किया है—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।।54।।

अर्थात् यह तारक ज्ञान बुद्धि के अन्दर एक-एक क्षण में उत्पन्न होने वाले सभी आभासों का पूर्ण ज्ञाता हुआ करता है। इसका स्पष्टीकरण श्री व्यासदेव जी के शब्दों में इस प्रकार से है—

तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यथ:, सर्वं विषयं नास्य किञ्चिदविषयीभूतमित्यर्थ:, सर्वथाविषयम् अतीता-नागतप्रत्युत्पन्नं सर्व सर्वथा जाना तीत्यर्थ:, अक्रममिति एकक्षणोपारूढ़ं सर्वं सर्वथा गुह्यातीत्यर्थ:, एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम्, अस्यैवांशो योगप्रदीप:, मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति।।54।।

अर्थात् तारक ज्ञान स्वप्रतिभोत्पन्न हुआ करता है। इस ज्ञान को पैदा करने के लिये योगी को किसी का अवलम्ब लेने की आवश्कयता नहीं रहती। वह ज्ञान प्रकृति पुरुष विवेक के साथ ही साथ बिना किसी प्रयास के अपने आप ही पैदा हो जाया करता है। इसलिये इस ज्ञान को स्व-प्रतिभोत्पन्न ज्ञान माना गया है। इस ज्ञान में किसी आगम आदि के उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती। यह ज्ञान योगी को अपनी स्वरूपख्याति के साथ ही साथ पैदा हो जाया करता है और इस ज्ञान के प्राप्त हो जाने के बाद योगी अपने आप ही सब विषयों को जानता है। उस योगी के लिये ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद कुछ भी ज्ञातव्य अवशेष नहीं रहता। वह योगी अतीत अनागत में होने वाली सभी बातों को सभी प्रकार से जानता है। उसके लिये कोई भी आक्रम वाली नहीं रहती। वह योगी एक क्षण में ही सबसे गुह्यातिगुह्या विषयों को पूर्णरूपेण जानता है। इसी ज्ञान का नाम परिपूर्ण विवेक ज्ञान है। इस ही के अंश मात्र को योगप्रदीप कहा गया है। इस स्थिति में मति-मति भूमिका को पाकर योगी पूर्णता को पा जाया करता है और वह अपनी निम्न श्रेणी की अन्तर्भूमिकाओं में से निकल करके निर्बीज समाधि को प्राप्त होकर अपने आपको पूर्णरूपेण स्वरूप प्रतिष्ठ हो जाता है। इस ही स्थिति का वर्णन करते हुए भगवान पतञ्जलिदेव ने योग दर्शन के प्रारम्भ में भी—

तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्।।3।।

कह करके जिसमें योगी स्वयं अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहा करता है वही उसका अर्थात् चित्त शक्तिरूप पुरुष का केवलीभाव है। जहाँ जा करके उपरोक्त विवेक ज्ञान की पूर्ण प्राप्ति हो जाया करती है। ऐसी स्थिति आ जाने पर योगी के लिए कुछ भी ज्ञातव्य अवशेष नहीं रहा करता है। इसी स्थिति का निदर्शन करते हुए भगवान पतञ्जलिदेव जी ने ये शब्द कह दिये—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

अर्थात् जहाँ प्रकृति और पुरुष की बराबर शुद्धि हो जाती है। अर्थात् गुणों में अवस्थान हो जाता है और पुरुष अपने स्वरूप में आ जाता है। यथार्थ में यही शुद्धि साम्य कहलाता है अर्थात् अब तक जीवात्मा बौद्धेय बोधों को देखने वाला बुद्धि बोधात्मा था। लेख के प्रारम्भ में इस बात को समझाया गया था कि आत्मा एक निर्मल ज्योति है। वह अच्छेद्य, अदाह्य एवं सर्वथा अविकारी है। उसकी अपनी स्वक्रीया प्रतिभा से बुद्धि को चेतनता प्राप्त हुई और उसने अपना स्वरूप आत्मा को दिखलाया इसीलिये अभी तक जीवात्मा सुख दुःखों का उपभोक्ता अविकारी होते हुए विकारी सा दिखलाई देता रहा। किन्तु अब यहाँ आ करके जहाँ प्रकृति और पुरुष का शुद्धि साम्य हो गया। अर्थात् गुणों का गुणों में अवस्थान हो गया और जड़ स्वरूप में पहुँच गई। इसी स्थिति का नाम शुद्धि साम्य है। भगवान व्यसादेव इसी सूत्र पर अपने विचार लिखते हुए इस प्रकार समझा रहे हैं—

यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्वं पुरुषस्यान्यता-प्रत्ययमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति तदा पुरुषस्योपचरित-भोगाभावःशुद्धिः एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवती-श्वर-स्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा न हि दग्धक्लेश बीजस्यज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति सत्व-शुद्धिद्धारेणैतत्समाधिजमैश्वर्य ज्ञानञ्चोपक्रान्तम्। परमार्थतस्तु ज्ञानादर्शनं निवर्तते, तस्मिन्निवृत्ते नश्यन्त्युत्तरे क्लेशाः। क्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावः चरिताधिकारश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते। तत्पुरुषस्य कैवल्य तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति।

अर्थात् जो योगी ऐसी स्थिति को पाकर के निर्धूत रजतम होकर मल रहित अन्यथा ख्याति प्राप्त बुद्धि सत्त्व को धारण कर लेता है उसके सभी क्लेश दग्ध-बीज-कल्प हो जाया करते हैं। इसी का नाम शुद्धि साम्य है। क्योंकि इसमें पहुँच करके औपचारिक रूप से पुरुष के लिये भोग का बिल्कुल अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति आ जाने पर योगी कैसी भी स्थिति में स्थित हो उसको किसी की भी अपेक्षा नहीं रहती। प्रकृति अपने स्वरूप में आ जाया करता है। यहाँ आकर के केवल मात्र स्वरूप प्रतिष्ठा की ही स्थिति रहती है। किसी प्रकार के अन्य ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती। यही योगी का कैवल्य भाव है। योगी अपने स्वरूप में स्वयं ही प्रतिष्ठित रहा करता है। क्योंकि पुरुषार्थ शून्य गुणों का पुनः प्रति प्रसव नहीं होता।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्य स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।।34।।

अर्थात् पुरुषार्थ रहित गुणों का अपने स्वरूप में लय हो जाना ही आत्मा का केवली भाव है।

कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्य्यंकारणात्मनां गुणानां तत्कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धि-सत्वानभिसंबन्धात्पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति।।34।।

अर्थात् पुरुषार्थ शून्य गुण जिनका कार्यारम्भ सामर्थ्य खतम हो चुकी है बुद्धि और पुरुष का सम्बन्ध छूट चुका है। उसी में सदा सर्वदा अपने स्वरूप में अवस्थित होना कैवलीभाव कहलाता है। यही पराकाष्ठा है और इसी ही का नाम परागति है। प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान को प्राप्त करके ही योगी सम्यक् ज्ञानवान बन पाता है। केवल मात्र योग ही एक ऐसी विद्या है जिसके जान लेने पर सभी कुछ जान लेता है। ऐसी स्थिति में पहुँचकर ही योगी स्वरूप प्रतिष्ठ हो जाया करता है। और इस योग स्थिति से ही उसको पूर्णरूपेण सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इस सम्यक् ज्ञान को प्राप्त कर लेने के बाद योगी की हृदय ग्रन्थि खुल जाती है। इस ही के लिये उपनिषदों में कहा गया है कि—

भिद्यन्ते हृदय ग्रन्थिश्च-
छिद्यन्ते सर्व संशयः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

अर्थात् उस नजदीक से नजदीक और दूर से दूर तक व्यापक सत्ता का अवलोकन कर लेने के बाद योगी की हृदय ग्रन्थि खुल जाया करती है। और उसके मन में रहने वाले सभी प्रकार के संशयों का नाश हो जाया करता है और सभी प्रकार के कर्म बन्धनों का क्षय हो जाता है। यह परावर दर्शन का अविचल लाभ योगी को हुआ करता है। संशय शब्द का अर्थ है **'उभय कोटि स्पृक् ज्ञान'** अर्थात् संशय के अन्दर मनुष्य सोचता है कि यह बात ठीक है अथवा वह बात ठीक है। इस प्रकार के विचार विनिमय में पड़ा रहा करता है। क्योंकि उसके अन्दर सत्य ज्ञान को अनुभव करने वाला बुद्धि-विवेक पैदा ही नहीं हुआ। सत्यासत्य का ज्ञान तो पूर्ण बुद्धि-विवेक प्राप्त योगी ही जान पाता है। यह कार्य तो केवल मात्र बुद्धि-विवेक प्राप्त कर लेने पर ही हुआ करता है। इसलिए केवल मात्र योग ही योगी के लिए सम्यक् ज्ञान का पूर्ण साधन है। योग को प्राप्त करके ही योगी यथार्थानुभूति को प्राप्त किया करता है। इसलिए साधक को चाहिये कि यदि वह यथार्थानुभूति की ओर जाना चाहता है तो नियम से योगाभ्यास करे, और योग के द्वारा स्वरूपोपलब्धि करके सम्यक् ज्ञान का भागी बने।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मां कश्चिद् दुःख भागभवेत्।।

हेय एवं हेय हेतु

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

संसार में छोड़ने लायक वस्तु क्या है? इस बात का हर व्यक्ति को ज्ञान नहीं हो पाता। जिस समय कोई भी व्यक्ति दु:ख-द्वन्द्व से घिर जाता है तो वह अपने मुख से स्वयं ही कहने लगता है कि परमात्मा मेरा इस दु:ख द्वन्द्व से पीछा छुड़ाये। किन्तु उसको इस बात का ज्ञान नहीं होता कि वस्तुत: दु:ख-द्वन्द्व क्या वस्तु है और उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुआ करती है? भगवान् पतञ्जलिदेव ने दु:ख-द्वन्द्व के आधारभूत पाँच क्लेशों को माना है। उनमें से अविद्या नाम का पहला क्लेश, अस्मिता नाम का दूसरा क्लेश, राम नाम का तीसरा क्लेश, द्वेष नाम का चौथा क्लेश और अभिनिवेश नाम का पाँचवाँ क्लेश कहा गया है। वस्तुत: विचार करके देखा जाय तो ये पाँचों क्लेश ही दु:ख-द्वन्द्व के आधारभूत हैं। इन पाँचों क्लेशों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान पतञ्जलिदेव ने इनका स्वरूप इस प्रकार से बतलाया है। सबसे पहले अविद्या नाम का क्लेश है। अविद्या का लक्षण करते हुए भगवान पतञ्जलिदेव ने अविद्या का लक्षण इस प्रकार से समझाया है—

अविद्या—

अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचि सुखात्मख्यातिर-विद्या।।5।।

अर्थात् अनित्य वस्तुओं में नित्यानुभूति पहली अविद्या और अपवित्रों में पवित्रानुभूति दूसरी अविद्या, दु:खों में सुख की सुखानुभूति तीसरी अविद्या और इसी प्रकार से अनात्म वस्तुओं को आत्मा समझना अविद्या का चौथा स्वरूप है। भगवान ने यों चार प्रकार के स्वरूप अविद्या के बतलाये हैं। इन स्वरूपों के स्पष्टीकरण के लिए इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव अपना भाष्य निम्न प्रकार से लिखते हैं—

अनित्ये कार्य्ये नित्यख्याति:, तद्यथाध्रुवा पृथिवीध्रवा स चन्द्रतारकाद्यौ: अमृता दिवौकस इति। तथाऽशुचौ परमवीभत्से काये, शुचि ख्याति:। उक्तश्च ''स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्नि स्य-न्दान्निधनादपि। कायमाधेयाशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं बिदु:।'' इत्यशुचौ शुचिख्याति दृश्यते। नवेयं शशाङ्कलेखाकमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रम्भित्त्वा नि:सृतेव ज्ञायते नीलोपलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोक-माश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभिसम्बन्ध:। भवति चैव शुचौ शुचिविपर्य्यसिप्रत्यय: इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यात:। तथा दु:खे सुखख्याति वक्ष्यति—

''परिणामतापसंस्कार दु:खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन:'' इति। तत्र सुखख्यातिरविद्या। तथा अनात्म-न्यात्मख्याति: बाह्योपकरणेषु चेतना चेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनस्यात्मन्यात्मख्यातिरिति। तथैत-दत्रोक्तं ''व्यक्तमव्यकतं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनु शोच-त्यात्मव्यापदं मन्यान: स सर्वोऽप्रतिबुद्ध:'' इति। एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति। तस्याश्चामित्राभोष्पदवद्धस्तु सतत्वं विज्ञेयं, यथा नामित्रोन मित्राभावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्ध: सपक्ष:, तथाचाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एवं ताभ्यामन्यद्वरस्त्वन्तरम्, एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभाव: किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति।।5।।

अर्थात् अनित्य वस्तुओं में नित्य की भावना पहली अविद्या कहलाती है। जैसे पृथ्वी निश्चित है, चन्द्रमा, तारे और देवता ये सब रहने वाले हैं। किन्तु वस्तुत: ये सभी वस्तुएँ अनित्य एवं न रहने वाली हैं और इस ही प्रकार से अपवित्र वस्तुओं को पवित्र समझना दूसरी अविद्या है। जैसे परम घृणित काया को पवित्र समझना। कहा भी गया है स्थान से, बीज से, मल-मूत्रादि के स्थानों से, मनुष्य का शरीर अत्यन्त अपवित्र है, किन्तु देखने में आता है मनुष्य अपने मन से इसको अत्यन्त पवित्र समझता है। एक मनुष्य यदि किसी नवयुवती को देखता है तो वह अपनी कामना से विचार करता है, यह कितनी सुन्दर है। मालूम पड़ता है, चन्द्रमा को तोड़कर निकाली गई है। उसके शरीर में एवं अंग-अंग में पवित्रता की कल्पना करता है, किन्तु ऊपर लिखे अनुसार शरीर अत्यन्त ही घृणित है। इस ही प्रकार दु:खों को मनुष्य सुख समझता है। दु:ख कितने अधिक हैं उनका व्याख्यान भी नहीं किया जा सकता। परिणाम ताप, संस्कार एवं त्रिविध दु:ख और गुण-वृत्ति-विरोध से विवेकी व्यक्ति के लिए सब कुछ दु:ख ही दु:ख है, किन्तु इन दु:खों में भी मनुष्य सुख समझता है। इसी प्रकार से व्यक्त या अव्यक्त रूप से विशेष प्रकार के सत्त्वोत्कर्ष को अपनी आत्मा समझ बैठता है, यह चार प्रकार की अविद्या मानी गई है। इस ही अविद्या के कारण, यही अविद्या वस्तुत: क्लेशों की आधारभूत है। इसके बाद अस्मितानाम का दूसरा क्लेश यहाँ गया है। भगवान पतंजलिदेव ने—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।।6।।

यह सूत्र कह करके दृग-शक्ति और दर्शन-शक्ति की एकरूपता को अस्मिता नाम का क्लेश कहा है। दृग-शक्ति और दर्शन-शक्ति बुद्धि कहलाती है। इन दोनों की मिल करके एकरूपता बनी हुई है। इस ही को जड़ और चेतन की गांठ भी कहा जाता है, यह अस्मिता नाम का दूसरा क्लेश है, राग नाम का तीसरा क्लेश है—

सुखानुशयी राग:।।7।।

यह कह करके राग नाम के क्लेश को समझाया है अर्थात् मनुष्य का मन जिन वस्तुओं में लग करके सुख का अनुभव करे वहीं राग नाम का क्लेश है एवं इस ही प्रकार से जिन वस्तुओं में लग करके मनुष्य का मन दु:ख का अनुभव करें वह दु:खानुशयी द्वेष: है। यह अविद्या का चौथा भाग है। इसके बाद अभिनिवेश नाम का पांचवां क्लेश है, जिसको मौत का भय कहा जाता है। भगवान पतञ्जलिदेव ने अभिनिवेश नाम के क्लेश को इस प्रकार से बतलाया है—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढ़ोऽभि निवेश:।।2।।

इसका अर्थ यह है कि विद्वान से मूर्ख तक में समान रूप से रहने वाला यह अभिनिवेश नाम का क्लेश। इस सूत्र पर श्री व्यासदेवजी ने अपने विचार इस प्रकार से स्पष्ट किये हैं—

सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूया-समिति। न चाननुभूतमरण धर्मकस्यैषा भवत्यात्माशी:। एतया च पूर्व जन्मानुभव: प्रतीयते। स चायमभिनिवेश: क्लेश: स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य। प्रत्यक्षानुमानागमै: सम्भावितो मरणत्रास उच्छेददृष्टयात्मक: पूर्वजन्मानुभूतं मरणदु:खम-नुमापयति। यथा चायमत्यन्तमूढ़ेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञात-पूर्वापरान्तस्य रूढ़:। कस्मात् समाना ही तयो: कुशलाकुशलयो: मरणदु:खानुभवादियं वासनेति।।6।।

अर्थात् सभी प्राणियों के मन में यह आशा बनी रहती है कि मेरे लिये ऐसा न हो जिसने मरण धर्म का अनुभव नहीं किया है उसके मन में यह धारणा आ ही नहीं सकती कि मेरी मृत्यु न हो। यह मरण भय विद्वान से लेकर मूर्खों तक में बराबर बना रहता है। इसीलिये विद्वान से लेकर मूर्ख तक समभाव से रहने वाला यह अभिनिवेश नाम का क्लेश है। क्लेश शब्द का अर्थ ही दु:ख है। संसार में जन्म लेने वाला हर प्राणी दु:खत्रास को हटाने के लिये प्रयत्नशील रहा करता है और उन्हीं सभी दु:खों की आधारभूता अविद्या है। एवं अविद्याजनित ये चार प्रकार के क्लेश हैं। इस प्रकार यह पाँच क्लेश अनेक रूप धारण करके मनुष्य के दु:खों का विस्तार करते रहते हैं। योगदर्शन में जहाँ संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्वजाति ज्ञान का प्रकरण आता है, वहाँ पर महर्षि आटव्य एवं जैगीषव्य का एक उदाहरण निम्नांकित प्रकार से आता है। वह इस प्रकार है—

भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्कारणाद् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुभरवद् अथ भगवानावटयस्तनुधरस्तमुवाज- दशसु महासर्गेसु भव्यत्वादनभि भूतबुद्धिसत्त्वेनत्वया नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दु:खं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुन: पुनरुत्पद्यमानेन सुखदु:खयो: किमधिकमुपलब्ध मिति? भगवन्तमावटय्यं जैगीषव्य उवाच— दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेनमया नरक-तिर्य्यग्भवं दु:खं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुन: पुनरुत्पद्यमानेन यांत्कञ्चिदनुभूतं तत्सर्वं दु:खमेव प्रत्यवैमि प्रत्यवैमि, भगवाना-वटय्य उचाव— यदिदमा युष्मत: प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपिटुदु:खपक्षे निक्षिप्तमिति? भगवान जैगीषध्य उवाच— विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं संतोषशुखमुक्तं, कैवल्यापेक्षया दु:खमेव बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मास्त्रिगुण: त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति दु:खस्वरूप स्तृष्णातन्तु-स्तृष्णादु:खसन्तानापगभात्तु प्रसङ्गामबाधं सर्वानुकूलं सुख-मिदमुक्तमिति।।18।।

महर्षि भगवान जैगीषव्य को दस महासर्गों के अन्दर होने वाले संस्कारों के साक्षात्कार करने से जन्म परिणाम के क्रम को देखते हुए विवेक ज्ञान पैदा हुआ और उस विवेक ज्ञान के पैदा हो जाने के बाद शरीर धारण कर भगवान आटव्य ने उनसे पूछा कि दस महासर्गों के अन्दर पवित्र बुद्धि सत्त्व के द्वारा नरक एवं निर्यक योनियों में होने वाले दु:ख को देखते हुए और देव मनुष्य आदि योनियों में बार-बार उत्पन्न होते हुए सुख दु:ख दोनों के जोड़े में तुमने क्या अधिक उपलब्ध किया? भगवान आटव्य के इस प्रकार पूछने पर महा मुनि जैगीषव्य ने उत्तर दिया कि हे प्रभो! दस महासर्गों के अन्दर भव्यत्त्वात् अननिभूत बुद्धि सत्त्व के द्वारा मैंने नरक और तिर्यंक योनियों में होने वाले दु:ख को देखते हुए और देव मनुष्य आदि में पुन: जन्म लेते हुए जो भी कुछ अनुभव किया, मैं उसको केवल दु:ख ही ही दु:ख जानता हूँ। उसके ऐसे कहने पर पुन: भगवान आटव्य ने पूछा— क्या ये तुम ठीक कह रहे हो? प्रधान वशित्त्व आदि और उत्तमोत्तम सन्तोष सुख आदि क्या ये सभी कुछ दु:ख पक्ष में डाल दिया? महामुनि जैगीषव्य ने उत्तर दिया कि हां, हे प्रभो! यह सन्तोष सुख विषय-सुख की अपेक्षा से तो उत्तम ही कहा गया है, किन्तु कैवल्य की अपेक्षा दु:ख ही है। क्योंकि बुद्धि-सत्त्व का जो अभाव है, वह तीन गुणों के अन्तर्गत है और वह त्रिगुणात्मक ज्ञान हेय ही माना गया है, क्योंकि तृष्णा तन्तु जो हैं एक प्रकार का दु:ख ही है। इसके छोड़ देने पर ही निर्विघ्न स्वानुकूल सुख कहा गया है। अत: जितना भी गुण विस्तार है उसमें गुणों का उत्था-पतन होता रहता है। अत: जब तक मनुष्य अपने भव्य-बुद्धि बोध से गुणों-धर्मों के अन्दर सुखों को देखता रहेगा, तो कालान्तर में उस रूपक के बदल जाने के बाद तृष्णा बार-बार उसी सुख को चाहती रहा करेगी और उस संस्कार के बदल जाने पर उस सुख का मिलना बिल्कुल भी सम्भव नहीं है। अत: कैवल्यापेक्षया सन्तोष सुख भी हेय पक्ष में ही है। भगवान आटव्य एवं महामुनि जैगीषव्य का यह उपाख्यान केवल मात्र एक ही बात को समझता है कि पूर्णरूपेण जब तक चित्तवृत्ति निरोध होकर कैवल्य लाभ नहीं हो जाता, तब तक यह सब कुछ दु:ख ही दु:ख है। भगवान पतंजलिदेव ने अपने योग-दर्शन के साधन-पाद में पाँच प्रकार से दु:खों का रूपक

समझाया है। वह निम्नांकित सूत्र में इस प्रकार से है। इस सूत्र को एवं इस सूत्र के अर्थ को भली प्रकार से समझने वाले साधक यह उत्तम ढंग से समझ जायेंगे कि उपरोक्त भगवान आटव्य और जैगीषव्य मुनि के उदाहरणार्थ दिये गये इस उपाख्यान के अनुसार कैवल्य लाभ की अपेक्षा संसार में सब दुःख ही दुःख है। भगवान पतंजलिदेव का निर्देशन इस प्रकार है—

परिणामताप संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।।15

अर्थात् परिणाम, संस्कार, ताप और दुःख इसके पश्चात् गुणवृत्ति-विरोध, विवेकी आदमी के लिए ये सब दुःख ही दुःख है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी महाराज ने इस प्रकार व्याख्या लिखी है—

सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति। तत्रास्ति रागजः कर्माशयः, तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः। तथा चोक्तम्-नानुपहत्य भूकान्युपभोगः सम्भवतीति हिंसाकृतोंऽष्यस्ति शारीरः कर्माशय इति। विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम्, या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरूप शान्तिस्तत्सुखं या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखं। न चेन्द्रियाणाँ भोगाभ्यासेन वैतृष्णयं कर्त्तुं शक्यम् कश्माद्? यतो भोगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः कौशानि चेन्द्रियाणामिति तस्मादुनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपंकेनिमग्न इति। एषां परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनसेव क्लिश्नाति।

अथा का तापदुःखता? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतन साधनाधीन-स्तापानुभव इति। तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशः सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा परिस्पन्दते। ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति च इति। परानुग्रहपीड़ाभ्यां धर्माधर्मावुपजिनोति, स कर्माशयो लोभान्मोहाश्च भवति। इत्येषा तापदुःखतोच्यते, का पुनः संस्कारदुःखता? सुखानुभवात् सुखसंस्काराशया, दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति। एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति।

एवमिदमनादि दुःखस्त्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति, कस्माद्? अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति। यथोणाँतन्तु रक्षिपात्रेन्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति नान्येषु गात्रवयवेषुः एवमेतानि दुःखान्याक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम्। इतरं तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपातं त्यजन्तं त्ययत्क्तंक्तमुपाद दानमनादिवासना विचित्तया छित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्ययाहातव्य एवाहङ्कारममकारानुपातिनं जातजातं बाह्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवंते, तदेववमनादिदुःखस्त्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं प्रपद्यत् इति।

गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः प्रख्याप्रवृत्ति स्थितिरूपा बुद्धिगुणा परस्परानुग्रहतन्त्रा भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्वयं त्रिगुणमेवारभन्ते चलं च गुणवृत्तमिति क्षिपरिणामि चित्तमुक्तम्। रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते, एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जित सुखदुःखमाहप्रत्यया इति, सर्वे सर्वरूपा भवन्ति गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति, तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति।

तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवजीजमविद्या, तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः। यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहंरोगोरोगहेतुः आरोग्यं भँषक्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद्यथा संसारहेतुः मोक्षोमोक्षोपाय इति। तत्र दूःछबहुलः संसारो हेयः प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हीनं, हानोपाय सम्यग्दर्शनम्। तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं हेयं वा न भवितुमर्हतीति, हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्ग उपादाने च हेतुवाद उभय प्रत्याख्याने च शाश्वतवाद इत्येतत् सम्बव्दर्शनम्।।15।।

अर्थात् संसार के सभी प्राणियों को ये कर्माशय चेतना और अचेतन साधनों के अधीन होने से राग नामक क्लेश से अनुविद्य है। अर्थात् जिन भी जड़ चेतन साधनों से मनुष्य सुख अनुभव करता है, ऐसा कर्माशय राग के अधीन रहता है और इस ही प्रकार से किन ही जड़ चेतन साधनों को पाकर के द्वेष करता है, दुःख साधनों में पड़कर मोह करता है, ऐसा कर्माशय द्वेष और मोह के अधीन हुआ करता है जैसा कि बताया गया है कि प्राणियों को दुःख दिये बिना वासनिक उपभोग सम्भव नहीं। इसलिए यह शारीरिक कर्माशय हिंसाजन्य भी हो गया और विषयों में सुखानुभूति अविद्याजनित है ही है। भोग और ऐन्द्रियजन्य सुख को पाकर के मनुष्य जो शांति का अनुभव करता है वह यथार्थ में इन्द्रियों की चपलता से अशांति ही है और इस प्रकार की अशान्ति केवलमात्र दुःख ही दुःख है। क्योंकि यह नियम की बात है कि इन्द्रियों के भोगाभ्यास से मनुष्य के मन में वितृष्णता का आना बिल्कुल भी सम्भव नहीं है। क्योंकि ज्यों-ज्यों मनुष्य भोग की ओर बढ़ता है अर्थात् भोगाभ्यास में लगा रहता है त्यों-त्यों उन-उन भोगों में उत्तरोत्तर राग बढ़ते ही रहते हैं और इन्द्रियों की चंचलता अधिकाधिक बढ़ती ही रहती है। इसलिये भोगाभ्यास सुख साधन का उपाय नहीं है। इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिये जैसे कोई व्यक्ति बिच्छू के विष से डरा हुआ हो और उसको अकस्मात् सर्प काट खाये। (सर्प काटने का दुःख उस बिच्छू से अधिक घातक होने के कारण वासनिक सुख को चाहने वाला सुखार्थी विषय सुख से घिरा हुआ महान दुःखरूपी कीच में फँस जाता है।) इसी का नाम परिणाम दुःखता है। यद्यपि विषय वासना में भी सांसारिक लोग कुछ विषय सुख का अनुभव तो करते ही हैं किन्तु विवेक

ज्ञान की ओर बढ़ जाने वाले योगी के लिये यह सब भी दु:ख ही दु:ख है। इसी का नाम ताप दु:खता है। और यह ताप दु:ख भी तापक दु:ख भी द्वेष के द्वारा जड़ और चेतन साधनों को अवलम्ब बनाकर ही अनुभव में आता है। अत यह कर्माशय द्वेष से उत्पन्न होने वाला हुआ। इस ही प्रकार से सुख साधनों की प्रार्थना करने वाला मनुष्य शरीर वाणी और मन से किसी से ईर्ष्या करता है और किसी पर अनुग्रह करता है। इस प्रकार दूसरों पर अनुग्रह और पीड़ा देते हुए धर्म और अधर्म को इकट्ठा करता है। यह कर्माशय भी लोभ और मोह से उत्पन्न होता है। इसलिये मानस ताप को पैदा करने वाला होने के कारण इसका नाम तापदुखता है। अब इससे आगे संस्कार दुखतापों को समझना चाहिये। एक मनुष्य यदि सुख संस्कारों को अनुभव करता है तो उसका सुख संस्कार आशय तैयार हो जाता है और दुखों का अनुभव करने से दु:ख संस्कार आशय बन जाता है। इसलिये इस प्रकार से सुख दु:ख रूप कर्म-विपाक को अनुभव करते हुए सुख-दु:ख रूप कर्माशय ही बार-बार बनता रहता है। इस प्रकार से यह अनादिकालीन दु:ख स्रोत विस्तार को पाता रहता है। और प्रतिकूलात्मक होने के कारण विवेक ज्ञान को प्राप्त हुए योगी को दु:ख देता रहता है। क्योंकि योगी का शरीर अक्षीपात्र के समान कोमल है। उदाहरण के तौर पर जैसे मकड़ी का जाला यदि आँख में पड़ जाये तो वह दु:ख देता है। और वही मकड़ी का जाला कदाचित् किसी शरीर के और भाग में कहीं लग जाता है तो उसके स्पर्श का किसी भी व्यक्ति को कोई दु:ख मालूम नहीं पड़ता। इस प्रकार से इन छोटे-छोटे संस्कारों के दु:ख को योगी अनुभव करता है। दूसरे सांसारिक लोग अनुभव नहीं करते। किन्तु इसके विपरीत अन्य संसार वाले अपने कर्म विपाक के अनुसार दु:ख को प्राप्त कर लेते हैं और भोग के बाद उसको छोड़ देते हैं।

उस कर्मभोग में बीजरूप वासना रहती है उस वासना के कारण फिर प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार अनादिकालीन वासना से घिरे हुए चित्तवृत्ति वाले लोग कर्म-संस्कार के भोग-चक्र में पड़े हुए त्रिविधि तापों का अनुभव किया करते हैं और इन बातों को समझकर व देख कर अपने आपको इस अनादिकालीन दु:ख स्रोत से घिरा हुआ देखकर एवं अन्य सांसारिक लोगों को भी इस ही प्रकार घिरा हुआ देखकर योगी सब प्रकार के दु:खों के निवृत्ति रूप तम्यक् ज्ञान की शरण में जाता है। इस प्रकार से गुण-वृत्ति विरोधात्मक होने से योगी को सब दु:ख ही दु:ख है। क्योंकि बौद्धेय गुण प्रख्या-प्रवृत्ति स्थितिशील होने से एक-दूसरे पर अनुग्रह तन्त्र-रूप बन करके शान्त, घोर और मूढ़ रूप ज्ञान को ही गुणात्मक होने के कारण आरम्भ करते हैं। इसलिये यह सब गुणवृत्त है और मनुष्य मात्र का चित्त जल्दी-जल्दी बदलने वाला होता है, यह एक सांसारिक नियम है। रूपातिशय वाले और वृत्तातिशय वाले परस्पर विरोध मानते हैं। वह समझते हैं— इसका रूप अच्छा क्यों और गुण-वृत्तिशील ऊँचा स्वभाव मुझसे ऊँचा क्यों? इसी बात को सामने रख करके एक-दूसरे से विरोध किया करते हैं और सामन्य रूप व सामान्य गुणवृत्ति वाले लोग ऊँचे रूप और गुणवृत्ति वालों के साथ मिल जाया करते हैं। अर्थात् ऊँची वृत्ति वाले व्यक्ति के सामने निम्न श्रेणी वृत्ति वाले लोग स्वत: ही उनके अधीन हो जाया करते हैं। इस प्रकार से एक-दूसरे से पैदा किये हुए सुख, दु:ख, मोह, रूप, ज्ञान, गुणात्मक होने के नाते सभी सर्वरूप होते हैं और गुण की प्रधानता वाला भाव इसमें विशेषकृत रहता है। इसलिये विवेकी व्यक्ति के लिये यह सब दु:ख ही दु:ख है और इन सब दु:खों को उत्पन्न करने वाली स्वरूपा अविद्या ही है और उस अविद्या के हटाने का उपाय केवलमात्र सम्यक्-दर्शन ही है।

जिस प्रकार से चिकित्साशास्त्री में चार प्रकार के व्यूह होते हैं। जैसे रोग- (१) राग का कारण, (२) आरोग्यता, और (३) भैषज्य (दवाई)। इस ही प्रकार से यह मोक्ष-शास्त्र भी चतुर्व्यूहकल्प है। जैसे संसार, संसार का कारण, मोक्ष का उपाय और मोक्ष। इनमें से संसार दु:ख प्रधान है, यह हेय है। प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध हेय हेतु है और संयोग की अत्यन्त निवृत्ति हान कहलाता है और योगी का आत्म-दर्शन ही हान का उपाय है। यहाँ पर हाता का स्वरूप न हेय है न उपादेय है। हान में उसका अध्येयवाद प्रसंग आता है और उपादेयता में हेतुवाद। यदि इन दोनों को मान लिया जाये, तो शाश्वतवाद की हानि होती है। आत्मा क्योंकि नित्य है, सदा है, शाश्वत है, इसलिये हाता होने के कारण यह शाश्वत-पद वाच्य ही है। इस प्रकार से परिणाम, ताप, संस्कार, दु:ख गुणवृत्ति-निरोध होने से नाते से एवं इसी प्रकार के पाँचों प्रकार के दु:ख, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश आदि पंचपर्वा अविद्या के ही कारण हैं। अर्थात् सभी प्रकार के दु:खों की जननी केवल मात्र अविद्या है। यद्यपि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये सभी क्लेश अलग-अलग बताये गये हैं, किन्तु जब मनुष्य पूर्णरूपेण विचार करके देखता है तो इनके मूल में अनित्यों को नित्य ज्ञान का अनुभव कराने वाले एवं अपवित्रों को पवित्र समझाने वाले, दु:खों में सुखों का आभास कराने वाले एवं अनात्म वस्तुओं के अन्दर आत्मत्वेन अनुभव कराने वाली केवलमात्र अविद्या ही है। इसी अविद्या से राग-द्वेष आदि अन्य क्लेशों की उत्पत्ति होती है। इसलिये ये अन्य सभी क्लेश अविद्या के अन्तर्गत ही माने गये हैं।

अब विचारने वाली बात केवल मात्र एक रह जाती है और वह यह कि इनमें हेयता क्या है और हेय का हेतु क्या है? जिससे दु:ख का अत्यन्त अभाव हो करके मुक्ति प्राप्त हो सके। ऊपर जिन दु:खों का वर्णन किया गया है, वे सभी दु:ख तीन विभागों में बँटे हुए हैं— प्रथम तो वह जो दु:ख अतीत हो चुके हैं, अर्थात् जो पहले भोगे जा चुके हैं और दूसरे वह जो दु:ख अब भोगे जा रहे हैं और तीसरे वे जो भविष्य में भोगे जायेंगे। इन तीन प्रकार के दु:खों में से जो दु:ख भोगे जा चुके हैं, वे सब तो समाप्त हो ही चुके हैं, उनकी हेयता का तो कोई प्रश्न ही पैदा नहीं हो पाता और जो दु:ख इस समय वर्तमान काल में भोगारूढ़ हैं, वह भी कुछ समय बाद समाप्त हो ही जायेंगे। अब शेष रहे अनागत दु:ख— जो अभी भोगारूढ़ नहीं हुए, उन ही को लक्ष्य में रखकर भगवान पतंजलिदेव जी कहते हैं कि—

हेयं दु:खमनागतम्।।16।।

अर्थात् जो दु:ख अभी नहीं आये हैं अनागत हैं वही हेय हैं। उनकी निवृत्ति का ही उपाय करना चाहिये। इन ही भावों को भगवान व्यासदेव इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

दु:खमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्त्तन्ते, वर्त्तमानं च स्वक्षणे भोगारूढ़मिति न तत् क्षणान्तरे हेयतामापद्यते। तस्माद् य देवानागतं दु:खं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति,नेतरं प्रतिपत्तारम्, तदेव हेयता मापद्यते।।16।।

अर्थात् जो दु:ख अतीत हो चुके हैं वे तो भुगतान में आ ही चुके हैं। उनकी हेयता का तो प्रश्न ही नहीं, और जो वर्तमान में भोगारूढ़ हैं वे सब भी क्षणान्तर में हेयता को प्राप्त हो ही जायेंगे। इसलिये जो दु:ख अभी अनागत हैं (अर्थात् जो दु:ख अभी नहीं आये हैं) वही सब असीपात्रकल्प योगी को दु:ख देते रहते हैं। अन्य संसारियों को उनका अनुभव नहीं हो पाता। इसलिये अब विचारने वाली बात केवलमात्र यह रही कि हेय का हेतु क्या है? क्योंकि जब तक बीज रहेगा तब तक वृक्ष भी बनता रहेगा। इसलिये पहले जड़ को समझ करके उसको ही काट देने का प्रयत्न कर देना चाहिये जिससे वृक्ष की उत्पत्ति हो ही नहीं पाये। इसके बारे में स्वयं भगवान पतञ्जलिजी इस प्रकार बतलाते हैं—

द्रष्टादृश्ययो: संयोगो हेयहेतु:।।17।।

अर्थात् दृष्टा और दृश्य का जो संयोग है वही दु:ख का कारण है। सूत्र के इन्हीं भावों को स्पष्टीकरण के साथ समझाते हुए भगवान व्यासदेव इस प्रकार बतलाते हैं—

द्रष्टा बुद्धे: प्रतिसंवेदी पुरुष: दृश्या: बुद्धिसत्त्वोषारूढ़ा: सर्वे धर्मा: तदेतद्दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन भवति पुरुषस्य स्वं दृशिरूपस्य स्वामिन:। अनुभवकर्मविषयतामापन्नमन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्परतन्त्रम्।

तयोर्द्वग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृत: संयोगो हेयहेतु: दु:खस्य कारणमित्यर्थ:, तथाचोक्त--तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दु:खप्रतीकार:। कस्माद् दु:खहेतो: परिहार्य्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता-कण्टकस्य भेत्तृत्वम्, परिहार: कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाधिष्ठानम्। एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दु:खं नाप्नोति। कस्मात् त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति। अत्रापि तापकस्य रजस: सत्त्वमेव तप्यं, कस्मात् तपिक्रियाया: कर्मस्थत्वात्, सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया, नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे दर्शितविषयत्वात्। सत्त्वे तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽप्यनुतप्यत इति दृश्यते।।17।।

दृष्टा अर्थात् जीवात्मा, इसी का नाम पुरुष कहा जाता है। पुरुष अर्थात् जीवात्मा बुद्धि का प्रतिसंवेदी कहलाता है। और दृश्यरूप से बुद्धि सत्त्व पर आरूढ़ हुए सभी प्रकार के बुद्धि धर्म हैं। (उदाहरण के साथ इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि आत्मा एक निर्मल ज्योति है एवं सभी प्रकार के विकारों से रहित है। किन्तु फिर भी गुणात्मिका बुद्धि ज्योंहि आत्मा के सामने आई तो उस पर आत्मा का प्रकाश पड़ा जिससे वह जड़ बुद्धि भी चेतन हो उठी और बुद्धि के चेतन हो जाने के बाद अपना स्वरूप आत्मा को दिखलाया। बुद्धि के धर्मों को देख करके आत्मा सुख-दु:ख आदि का अनुभव करने वाली हो गयी। इस ही कारण से आत्मा को 'बुद्धे: प्रतिसंवेदी पुरुष:' कह करके बुद्धि बोधात्मा माना गया है। इसी प्रकार से दृश्य रूप से बुद्धिसस्वोपरूढ़ सभी धर्म हैं, इस बात इस प्रकार से समझ लेना चाहिये। भाष्यकार ने अयस्कान्तमणि का उदाहरण दे करके जीवात्मा और बुद्धि के सम्बन्ध को समझाया है और कहा है कि बुद्धि रूप दृश्य अयस्कान्तमणि भी तरह से सन्निधिमात्रोपकार्य है और क्योंकि यह दृश्य है अत: दृश्य होने के नाते से जीवात्मा अर्थात् पुरुष का अपना है। यद्यपि बुद्धि दृश्य होने से अनुभव कर्म विषयता को प्राप्त भी हुई। एक दूसरे स्वरूप से प्रतीलब्धात्मक होने से स्वतन्त्र सी दिखलाई देती हैं। किन्तु यथार्थ में यह स्वतन्त्र नहीं है।

'परार्थत्त्वाद' यह परतन्त्र, क्योंकि बुद्धि में जो उद्बोधन क्रियायें होती हैं, वह केवलमात्र आत्मिक तेज को पा करके ही होती हैं। अत: दृगशक्ति जीवात्मा और दर्शन-शक्ति बुद्धि इनका अनादिकालीन जो सम्बन्ध है वही दु:ख का कारण है। इसका आत्यान्तिक दु:ख प्रतिकार ही हेयहेतु है। वह इस प्रकार दु:ख के कारण का परिहार देखने में आता है। इस बात को भाष्यकार ने पादतल का उदाहरण दे करके समझाया है। जैसे- पैर के पादतल भेद्यता और कांटे का भेद्यित्व और भेद्यित्व का परिहार। इन तीन बातों को समझ करके कांटे पर पैर का रखना या जूता पहनकर रखना, इस प्रकार से उपरोक्त तीनों बातों को समझ करके जो प्रतिकार का आरम्भ करता है वह वेधन दु:ख से बच जाया करता है। यहाँ पर भी उपरोक्त जो सिद्धान्त समझाया गया है, उस सिद्धान्त के अनुसार रजोगुण तापक है और सतोगुण तप्य है, क्योंकि तपन क्रिया जो है वह कर्म में है। रजोगुण में तापिक क्रिया देखने में आती है किन्तु अपरिणामी निष्क्रिय पुरुष बिल्कुल शुद्ध है। किन्तु फिर भी दर्शित विषय होने से बुद्धि सत्त्व के तप्यमान होने पर भी पुरुष तपाया जा रहा है, यह व्यवहार देखने में आता है। इसलिये बुद्धि और पुरुष का अनादिकालीन सम्बन्ध ही वस्तुत: हेयहेतु है। यदि इस हेयहेतु को बिल्कुल हटा दिया जाय और जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाये तब दु:खों की अत्यन्त हान हो करके दृष्टा रूप जीवात्मा का कैवलीभाव अर्थात् कैवल्य रहेगा। इसलिये जिस प्रकार लेख के आरम्भ में लेख का विषय हेय और हेयहेतु बतलाया गया है और उसमें सभी कारणों को समझा करके प्रकृति और पुरुष का अनादिकालीन सम्बन्ध दु:खों का कारण बतलाया गया है, इसकी अत्यन्त निवृत्ति ही कैवलीभाव का मूल कारण है, इसलिये अनागत दु:ख ही हेय है और उनका हान प्रकृति व पुरुष का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर ही होता है, उसी के लिए योगी साधक को प्रयत्नशील रहना चाहिये।

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मां कश्चिद्दु:ख भागभवेत्।।

पातंजलि योग-दर्शन में ईश्वर का स्थान

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

भारतवर्ष के अन्दर विविध विचारों वाले व्यक्ति हैं और वे सभी अपने-अपने मन के अनुसार जैसी-जैसी जिसकी धारण होती है वैसे-वैसे अपने विचारों को प्रगट किया करते हैं। ऐसे ही दर्शनों का अध्ययन करने वाले मनीषी भी उन सभी शास्त्रों में भेद दर्शन करते हैं और इसीलिये कुछ एक दर्शनों को यह लोग अनीश्वरवादी कहते हैं कतिपय योग-दर्शन को भी अनीश्वरवादी कहने का प्रयत्न किया करते हैं। कई एक सभाओं में जब हमारे सामने इस प्रकार का प्रकरण आया तो कई एक मण्डलेश्वरों ने भी योग-दर्शन को अनीश्वरवादी कह करके अपने मन को संतुष्ट किया। किन्तु यह बात यथार्थ में सत्य नहीं है। यह दूसरी बात है कि कोई मनुष्य योगदर्शन के प्रतिपाद्य विषय को यथार्थ रूप में न समझ सकने के कारण योगदर्शन को अनीश्वरवादी कहकर अपने आपको गणमान्य एवं यथार्थवादी समझते हैं। यद्यपि यह बात ठीक है कि पातञ्जलि योग दर्शन का प्रतिपाद्य विषय प्रकृति पुरुष विवेक ही है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि प्रकृति पुरुष विवेक को समझाने के लिये श्री पतञ्जलिदेव जी ने जिस सिद्धान्त की रचना की उससे योगदर्शन अनीश्वरवादी हो गया। इस बात से तो यह सिद्ध होता है कि ऐसा सोचने वालों के मतिभ्रम को ही यह बात है। एक व्यक्ति बाजार में बैठ करके दुकान करता है और वह साबुन ही बेचता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि साबुन के अतिरिक्त उस बाजार में और कोई वस्तु है ही नहीं। बाजार में तो सभी प्रकार की वस्तुयें मिल सकती हैं किन्तु उस बाजार में सभी प्रकार की वस्तुओं की दुकानें होने पर भी उस साबुन वाले की दुकान पर तो केवल साबुन ही मिलेगा। साबुन वाले की दुकान पर घी, मक्खन, मिश्री, दूध आदि तो मिलेगा ही नहीं। क्योंकि उसकी दुकान केवलमात्र साबुन बेचने की ही है। किन्तु इसका अर्थ यह कभी भी नहीं समझना चाहिये कि यदि उसकी दुकान में घी, दूध, आदि नहीं मिल सकते तो सारे बाजार में घी, दूध की सत्ता ही नहीं है यह कहना कहने वाले के मतिभ्रम के अतिरिक्त और कहा भी क्या जा सकता है। इसी प्रकार से यद्यपि योगदर्शन का प्रतिपाद्य विषय प्रकृति पुरुष विवेक ही है। यहीं से भगवान पतञ्जलिदेव ने योगदर्शन को आरंभ किया और योग की परिभाषा बतलाने के लिए 'योग: चित्तवृत्ति निरोध:'' कहकर योग का लक्षण लिखा। चित्तवृत्ति निरोध शब्द का अर्थ है—

चित्तवृत्तिनां नितराम् रोध: योग:।

अर्थात् यह कहकर योग की परिभाषा लिखी। अर्थात् चित्तवृत्तियों का नितराम् रोध ही योग कहलाता है और नितराम् योग शब्द का अर्थ है चित्तवृत्तियों का समोलोन्मूलन। अर्थात् प्रकृति और पुरुष की जो अनादिकालीन गांठ बनी हुई चली आती है उसका टूट जाना। उस की गांठ का नाम अज्ञान ग्रन्थि है। वही अज्ञान ग्रन्थि पुरुष के बन्धन का कारण बनी चली आती है। इस बात को इस प्रकार से समझ लेना चाहिये कि आत्मा का स्वरूप गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने एवं उपनिषदों में या अन्यान्य हमारे धर्म शास्त्रों में अच्छेद्य एवं अभेद्य कहा है। ऐसी स्थिति में उसका बन्धन क्यों? आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के शब्दों में आत्म-स्वरूप को समझा देने वाले इन दो श्लोकों को ध्यानपूर्वक पढ़ लीजिये—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम-
क्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य: सर्वगत: स्थाणु-
रचलोऽय सनातन:।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽय-
मविकार्योऽयमुच्यते।

अर्थात् यह आत्मा अच्छेद्य है अभेद्य है, अक्लेद्य और अशोष्य है। नित्य सर्व स्थाणु हे अव्यक्त अचिन्त्य और अविकारी है। ऐसी स्थिति में इसका बन्धन क्यों? यह बात इस प्रकार से है। आत्मा एक निर्मल ज्योति है जिसमें किसी भी प्रकार का कोई भी विकार नहीं है। एवं बुद्धि बिल्कुल जड़ है एवं चेतनता शून्य है। ऐसी स्थिति में जिस समय बुद्धि आत्मा के सामने जाती है तो वह आत्मिक तेज को पाकर चेतन हो उठती है। आत्मा के ऐसे महान उपकार को पाकर बुद्धि चेतन हो गई और बुद्धि ने चेतन होकर आत्मा को अपना स्वरूप दिखलाया। वह बौद्धेय स्वरूप बुद्धि का आत्मा में अपने गुणात्मक आकार से भाषित होने लगा। जिस प्रकार दीवार में लगे हुए दर्पण के सामने हरे, पीले व लाल रंग के विभिन्न आकृतियों के कोई रूप आते हैं तो वह उस शीशे के अन्दर दिखलाई देने लगते हैं किन्तु यथार्थ में वह सभी रूप शीशे के अन्दर हुआ नहीं करते। जिस समय उन रूपों को या विविध प्रकार के रंगों को शीशे के सामने से हटा दिया जाना है तो शीशा ज्यों का त्यों रह जाता है। उन रंगों के दूर हट जाने पर शीशे की स्थिति बिल्कुल शुद्ध स्थिति हुआ करती है। इसी प्रकार से जड़ और चेतन की एक गांठ बनी हुई है। जिस समय विविध प्रकार की योग साधनाओं के द्वारा आत्मा अपने स्वरूप में आ जाया करती है, उस समय यह आत्मा सब प्रकार से विकार रहित एवं शुद्ध स्थिति में हुआ करता है। यही चित्तवृत्ति निरोध की शुद्ध स्थिति है। जिस समय आत्मा

निर्बीज समाधि में अपनी शुद्ध स्थिति में रहा करता है उसे भगवान पतञ्जलिदेव ने 'स्वरूप स्थिति' कहा है। और स्वरूप स्थिति से अर्थात् समाधि से नीचे आ जाने पर आत्मा वृत्तियों के साथ मिला हुआ भाषित होने लगता है। इसी का नाम हृदय ग्रन्थि, अज्ञान ग्रन्थि एवं जड़ और चेतन की गांठ आदि-आदि नामों से भी कहा गया है। जड़ और चेतन की यह गांठ खुल जाये एवं प्रकृति और पुरुष का शुद्धि-साम्य हो जाये अर्थात् प्रकृति अपने स्वरूप में चला जाये एवं पुरुष (जीवात्मा) अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाये इसी का नाम 'केवलीभाव' है। यथार्थ में योग-दर्शन का प्रतिपाद्य विषय तो यही है। इस स्वरूप में उपलब्धि को लक्ष्य में रखकर के भगवान पतञ्जलि ने तरह-तरह के उपाय समाधि प्राप्ति हेतु अपने योगदर्शन में बतलाये हैं और उन सभी उपायों को वर्णन कर लेने के बाद जब यह प्रश्न सामने आया कि—

किमेतस्मादेवा सन्नतमः समाधिर्भवति, अथास्य लाभे भवति अन्योऽपि कश्चिदुपायो ने वेति।

इन उपरोक्त योग-दर्शन में बताये गये समाधि-प्राप्ति के उपायों के अतिरिक्त और भी कोई सरलतम् उपाय है जिससे जल्दी से जल्दी समाधि प्राप्त की जा सकें।

इसका उत्तर देते हुये भगवान् पतञ्जलिदेव ने कहा कि 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा।' अर्थात् ईश्वर को आत्म निवेदन कर देने कर देने पर ही समाधि की प्राप्ति हुआ करती है। श्री व्यासदेव जी महाराज लिखते हैं-

प्रणिधानाद्-भक्तिविशेषाद् आवर्जिन ईश्वरस्तमनु-गृह्णात्मभिध्यानम त्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवतीति।

अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से, भक्ति विशेष से सन्मुख लाया हुआ ईश्वर साधक पर अनुग्रह करता है कि इसकी यानी साधक की यह समाधि अर्थात् चाही हुई प्रिय वस्तु प्राप्त हो जाय। ईश्वर के अनुग्रह करने पर उस साधक को स्वरूप स्थिति रूप समाधि की प्राप्ति हो जाया करती है। इस सूत्र से पहले योग-दर्शन का प्रतिपाद्य विषय था— ''**प्रकृति-पुरुष-विवेक**' और इसीलिये अन्यान्य समाधि प्राप्ति के विविध प्रकार के उपायों का '**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**' **आदि** बातें कह करके चित्तवृत्तियों के समोलोन्मूलन करने के उपायों का वर्णन किया, किन्तु यह सभी उपाय कह देने के बाद जब यह पूछा गया कि इनसे भी कोई और सरलतम उपाय है तब भगवान पतञ्जलि देव ने ईश्वर के अनुग्रह को समाधि प्राप्ति के लिये सरलतम उपाय बतलाया। जब ईश्वर के अनुग्रह से समाधि प्राप्ति का एक उपाय और बतला दिया तब सुनने वालों के मन में शंका पैदा हुई कि—

प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरोनामेति।

अर्थात् अभी तो योगदर्शन में प्रकृति और पुरुष के विवेक का ही विषय चला आ रहा था किन्तु यहाँ तक यह विषय चले आने पर भगवान पतञ्जलिदेव ने ईश्वरानुग्रह से भी समाधि की प्राप्ति होती है जब यह बात कह डाली तो सुनने वालों के मनों में एक नई हलचल सी पैदा हो गई और उन्होंने यह कहा कि प्रकृत्ति और पुरुष से अलग यह ईश्वर नाम की तीसरी वस्तु और क्या? और कहाँ से आ गई। और उस ईश्वर का क्या स्वरूप तथा क्या सामर्थ्य है जिसके बल से योगी को समाधि की प्राप्ति हुआ करती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान पतञ्जलिदेव ने कहा कि—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष-विशेषः ईश्वरः।

अर्थात् क्लेश कर्म एवं कर्म विपाक आदि से जो बिल्कुल अपरामृष्ट है उस ही पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है। ईश्वर के स्वरूप को विशद् व्याख्यान के साथ समझाने के लिये भगवान व्यासदेव ने इस प्रकार समझाया है-

अविद्यादयः क्लेशाः। कुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशयाः।

ते च मनसि वर्त्तनानाः पुरुषेव्यवदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते यो ह्यनेन् भोगेनापरामृष्टः सः पुरुषविशेष ईश्वरः। कैवल्य प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धों न भूतो न भावी, यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति। योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित आहोस्विन्निर्निमित्त इति। तस्य शास्त्रं निमित्तम् शास्त्रं पुनः किन्निमित्तं? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्ष-योगीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः एतस्मादेतद् भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्य्यं साम्याति-शयविनिर्मुक्तं। यदेवातिशयि स्यात् तदैव तत्स्यात् तस्माद् यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वय्यस्य स ईश्वरः इति। न च तत्समानमै-श्वर्यमस्ति। कस्माद्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विवत्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्य-विधातादूनत्वं प्रसक्तं द्वयोश्च तुल्ययोर्युग-पत्कामितार्थ-प्राप्तिर्नास्त्यर्थस्य विरुद्धत्वात् तस्माद् यस्य साम्यातिशय-विनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः स च पुरुषविशेष इति।।24।।

अर्थात् अविद्या अस्मिता, राग-द्वेष आदि पांच क्लेश अच्छे और बुरे कर्म और उन कर्मों का फल अर्थात् कर्म-विपाक और कर्म-विपाक का अनुसरण करने वाली कर्म वासनायें सब मन में रहा करती हैं। किन्तु मन में रहने पर भी आत्मा में ही आरोपित किये जाते हैं। और कहने में भी यह कहा जाता है कि वह पुरुष ही उन कर्मफलों का भोक्ता है। कर्मफल का भोक्ता पुरुष तो नहीं होता किन्तु कथन मात्र के लिये यह एक रीति-रिवाज है कि वही पुरुष कर्मफल का भोक्ता है। जैसे कहीं किसी स्थान पर जब कहीं दो राजाओं का युद्ध जारी होता है उस समय लड़ाई करने वाले तो सिपाही लोग ही होते हैं किन्तु जब सैनिक लोग दूसरी सेना को हरा करके

बड़ी मेहनत के बाद जीतते हैं या कदाचित् हारते हैं तब वह जय और पराजय उनके मालिक उस राजा की मानी जाती है जिसकी सेना हार गई या जीत गई है। इसलिये यद्यपि अविद्यादिक क्लेश अच्छे-बुरे कर्म एवं उन कर्मों का फल, कर्मफल का अनुसरण करने वाली वासना ये सब आत्मा के धर्म नहीं है प्रत्युत बुद्धि के धर्म हैं वह आत्मा तो इनके भोगों से बिल्कुल ही अपरामृष्ट है किन्तु फिर भी क्योंकि हमारा यह आत्मा इस समय अविद्या-ग्रंथि से बद्ध है, इस ही कारण से बुद्धि के अन्दर होने वाले धर्मों को आत्म-धर्म मान लिया जाता है। यथार्थ में तो वह आत्मा इन क्लेश कर्म विपाक आदि से बिल्कुल ही अपरामृष्ट है। यहाँ पर इस सब व्याख्यान को सुनकर किसी ने एक प्रश्न किया और वह यह कि बहुत से ऐसे योगी हैं जो कैवल्य लाभ कर चुके हैं और बौद्धेय धर्म क्लेश, कर्म एवं कर्म-विपाक आदि से बिल्कुल विमुक्त अर्थात् अपरामृष्ट हो चुके हैं, क्या वे सभी लोग ईश्वर कोटि के अन्दर माने जायेंगे अथवा नहीं! श्री व्यासदेव जी महाराज अपने भाष्य में इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि नहीं-नहीं! वे लोग ईश्वर कोटि में नहीं माने जायेंगे। क्योंकि वे सब तो तीन बन्धनों को काट करके कैवल्य पद को प्राप्त हुए हैं। और ईश्वर का सम्बन्ध इन तीन बन्धनों से न तो पहले कभी था और न ही कभी आगे होगा। वह ईश्वर तो अनन्तकाल गति से सदा ही मुक्त और ईश्वर चला आता है उसकी बन्धकोटि न कभी पहले थी और न कभी आगे चलकर होगी। जैसे मुक्तात्माओं की बन्धनकोटि थी एवं प्रकृतिलीन योगियों की बाद में बद्धकोटि की सम्भावना की जाती है, इस प्रकार ईश्वर की नहीं। वह ईश्वर तो अनन्तकाल की ज्ञान-गति से सदा ही मुक्त है और सदा ही ईश्वर है। यहाँ पर एक प्रश्न और पैदा होता है वह यह कि ईश्वर का जो प्रकृष्ट सत्त्वोपादानादि शाश्वतिक उत्कर्ष है उसका कोई निमित्त कारण है या नहीं है? उसके उत्तर में श्री व्यासदेव जी ने बतलाया कि उस ईश्वर के प्रकृष्ट सत्त्वोपादानादि शाश्वतिक उत्कर्ष में शास्त्र ही निमित्त कारण है। फिर यहाँ पर दुबारा प्रश्न, प्रश्न कर्ता पूछता है कि यह तो ठीक है कि ईश्वर के प्रकृष्ट सत्त्वोपादानादि शाश्वतिक उत्कर्ष में शास्त्र का निमित्त है। किन्तु ऐसी स्थिति में शास्त्र का निमित्त क्या है तो उसके उत्तर में कहा कि शास्त्र का प्रकृष्ट सत्त्व ही निमित्त कारण है। क्योंकि ईश्वर में और उसके प्रकृष्ट सत्त्वोपादानादि शाश्वतिक उत्कर्ष में अनादि सम्बन्ध ही कारण है। इसीलिये यह कहा गया है कि वह ईश्वर सदा ही मुक्त है और सदा से ही ईश्वर है। उस ईश्वर का जो ऐश्वर्य है वह ऐश्वर्य साम्यातिशय विनिर्मुक्त है। अर्थात् उस ईश्वर से अधिक किसी का भी ऐश्वर्य नहीं। उस ईश्वर का ऐश्वर्य किसी दूसरे के ऐश्वर्य से दबाया नहीं जा सकता। इस ही कारण से जिस ईश्वर का ऐश्वर्य काष्ठाप्राप्ति का (समावधि का है) है वही ईश्वर है उसके बराबर किसी का भी ऐश्वर्य नहीं। इस बात को एक उदाहरण के साथ सिद्ध किया है। अर्थात् कोई एक वस्तु है उसमें प्रतिद्वन्दिता के नाते से दो व्यक्ति अलग-अलग कामना करते हैं। एक कहता है कि यह नई हो जाये और दूसरा कहता है कि पुरानी ही बनी रहे। ऐसा एक वस्तु के विषय में दो की भावना बनी रही। इन दोनों में से जब किसी एक की कामना पूरी होगी तो दूसरे की कामना का अभिघात तो होगा ही और जिसकी कामना का अभिघात होगा उसका अपने आप छोटापन भी हो ही गया अत: दोनों की कामना तो पूर्ण हो ही नहीं सकती। अत: उस ईश्वर का ऐश्वर्य साम्यातिशय विनिर्मुक्त है। और जिसका ऐश्वर्य साम्यातिशय विनिर्मुक्त है वही ईश्वर है— और उसी का नाम पुरुष विशेष है। उस ईश्वर में सर्वज्ञ बीज की भी पराकाष्ठा है। भगवान पतञ्जलिदेव लिखते हैं कि—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।।25।।

अर्थात् उस ईश्वर में सर्वज्ञ बीज की भी पराकाष्ठा है। इस सूत्र पर पढ़िये श्री व्यासदेव जी के विचार—

यदिदमतीतानागतम् प्रत्युत्पन्नं प्रत्येकसमुच्चयाती-न्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजम् एतद्धि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञ: अस्ति काष्ठाप्राप्ति: सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवदिति यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञ: स च पुरुषविशेष इति, सामान्य मात्रोपसंहारे कृतोपक्ष-यमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति, तस्य संज्ञादिविशेष-प्रतिपत्तिरागमत: पर्य्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहा-भावेऽपि भूतानुग्रह: प्रयोजनं ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलय-महाप्रलयेषु संसारिण: पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथाचौक्तम् आदिविद्धान्निर्माण-चित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरा-सुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच इति।।25।।

अर्थात् उस ईश्वर में सर्वज्ञ बीज की पराकाष्ठा है। जो अतिशय रहित हुआ करता है वही पराकाष्ठा का द्योतक कहलाया करता है। जो वस्तु अतीत अनागत और वर्तमान काल में प्रगट या अप्रगट रूप में एकत्र या सर्वत्र किसी भी जीव में कम या अधिक, थोड़ा या बहुत जो अतीन्द्रिय ज्ञान देखने में आता है वही सर्वज्ञता का बीज कहलाता है। इस प्रकार से थोड़ा, अधिक या बहुत अधिक बढ़-बढ़ करके जब यह ज्ञान सीमा पर पहुँच जाता है वही सर्वज्ञ बीज की पराकाष्ठा कहलाती है। इसलिये ईश्वर में ही यह सर्वज्ञबीज पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है। यही कारण है कि ईश्वर अन्य सभी सर्वज्ञों में सबसे बड़ा एवं पराकाष्ठा प्राप्त सर्वज्ञ कहलाता है। क्योंकि यह सर्वज्ञता क्रमश: प्राप्त देखने में आती है वह उससे बढ़कर सर्वज्ञ और उससे भी बढ़ करके और कोई सर्वज्ञ और इसी प्रकार से उन दोनों निपट से निपटतर कोई और सर्वज्ञ इस प्रकार से निरन्तर बढ़ता हुआ यह सर्वज्ञात्रित्व ज्ञान जहाँ सीमा को पहुँच जाये वह केवल ईश्वर ही है। यहाँ आकर के अनुमान प्रमाण खत्म हो जाता है। जैसे एक व्यक्ति किसी वस्तु का अनुमान करता है कि यह इसकी इतनी सीमा है और उससे आगे इसी विषय की अमुक वस्तु की इतनी सीमा है, इस प्रकार से अनुमान प्रमाण केवलमात्र सामान्य ज्ञान को कहने में ही समर्थ होता है। अनुमान प्रमाण के द्वारा केवलमात्र विचारणीय विषय को लक्षणों से ही अनुमापित किया जा सकता है। जैसे कोई कहे कि यह पर्वत अग्नि वाला है क्योंकि इसमें धुँआ निकल रहा है। धुयें का निकलना ही अग्नि का अनुमापक है। कदाचित् वह धुँआ किसी न किसी दूसरी प्रकार से गैस के रूप में बनाकर के वहाँ छोड़ दिया हो तो अनुमान, प्रमाण वाला व्यक्ति तो केवल मात्र उस

धुऐं को देख करके यहाँ अग्नि है ऐसा सोच ही सकता है। किन्तु प्रत्यक्ष करने वाला व्यक्ति उसको आंखों से देख करके ही पूर्णरूपेण सत्यासत्य का निश्चय कर लिया करता है। इसलिये अनुमान, प्रमाण किसी प्रतिपत्ति में समर्थ नहीं हैं। क्योंकि वह तो केवलमात्र सामान्य ज्ञान को ही बतला सकता है। उस ईश्वर के विषय में विशेष ज्ञान केवल मात्र आगम के द्वारा ही जाना जा सकता है। ईश्वर पुरुष विशेष होने के नाते से अनादिकालीन होने से संसार में उसका कुछ भी कर्त्तव्य अवशेष नहीं। किन्तु फिर भी प्राणीमात्र का भला करने के लिये और सांसारिक प्राणियों के उद्धार के लिए कल्प प्रलय और महाप्रलय आदि के अन्दर सांसारिक प्राणियों का उद्धार करूँगा ऐसी प्रवृत्ति केवलमात्र कर्तव्य बुद्धि से कर्म करते हुए ''मैं सांसारिक प्राणियों का उद्धार करूँ।'' ईश्वर अकर्ता होते हुए भी केवलमात्र कर्तव्य बुद्धि से भूतानुग्रह प्रयोजन को सामने रखते हुए संसार में आकर काम किया करते हैं। यहाँ पर व्यास भाष्य में कपिलादिक मुनियों को माध्यम बनाते हुए एक प्रमाण दिखलाया है। और वह यह कि आदि योगी भगवान कपिलदेव ने दयावश होकर निर्माण चित्त का आशय लेकर के परम जिज्ञासु आसुरी के प्रति सांख्य शास्त्र का उपदेश किया। यही ईश्वर का भूतानुग्रह प्रयोजन है। ये सब कुछ करते हुए भी ईश्वर सदा ही अकर्ता है। क्योंकि उसकी किसी भी प्रकार से कर्मफल में आसक्ति नहीं रही। बन्धन का कारण तो केवलमात्र कर्म फल की आसक्ति ही कहला सकती है। उस कर्मफल आसक्ति को छोड़कर जो भी मनुष्य संसार में कर्म करता है वह कर्म बन्धन से मुक्त ही रहता है। इन्हीं भावों को समझाते हुए भगवान श्रीकृष्ण अपना उदाहरण देते हुए अपनी श्रीमद्भगवद्गीता में अकर्मता को इस प्रकार समझा रहे हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं
त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्य वर्त-
एव च कर्मणि।।
यदि ह्यहं न वर्तेयं
जातुं कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते-
मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।
उत्सीदेयुरिमे लोका
न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता
स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो
यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चि-
कीर्षुर्लोक संग्रहम्।।

अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान श्रीकृष्ण यह समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! मेरा तीनों लोकों में कोई भी कर्तव्य अवशेष नहीं है और न ही कोई ऐसी वस्तु है कि जो मेरे लिये अप्राप्य हो, किन्तु फिर भी मैं कर्म करता हूँ। कदाचित् मैं कर्म शृंखला को तोड़ दूँ तो एक बहुत बड़ा अनर्थ हो जायेगा और वह यह कि मैं प्रज्ञा के विनाश का कारण बन जाऊँगा, क्योंकि संसार के प्राणीमात्र मेरा अनुसरण करते हैं। जिस रास्ते से मैं चाहता हूँ उसी रास्ते से वे लोग भी चलते हैं। यदि मैं सचेत हो करके कर्मरत न होऊँ तो वर्णशंकर धर्म का कर्त्ता बन जाऊँगा। इसलिये भूतानुग्रहवश होकर मैं इच्छा न रहने पर भी कर्म करता ही हूँ और इस ही प्रकार से अन्य व्यक्ति जो कृतार्थता को प्राप्त हो चुके है, यद्यपि उनका कर्तव्य संसार से समाप्त हो गया है, ऐसे व्यक्तियों को भी जिस प्रकार से सर्व साधारण लोग कर्मरत रहा करते हैं, उसी प्रकार से उनको भी कर्मरतता दिखलानी ही चाहिये, क्योंकि सभी लोग उनकी हरकतों को देख करके और लोग भी वैसी ही हरकतें किया करते हैं। इस प्रकार से ईश्वर का प्रयोजन अपना कोई प्रयोजन न होते हुए भी केवलमात्र भूतानुग्रह मात्र प्रयोजन ही उसका अपना प्रयोजन हुआ करता है। वह ईश्वर ही सारे संसार के प्राणियो के अन्धकार निवारण के लिये आदि गुरु है। उसके आदि गुरुता के स्वरूप को समझाने के लिये भगवान पतञ्जलिदेव जी ने निम्नांकित सूत्र लिखा—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।।26।।

अर्थात् वह ईश्वर सृष्टि के आदि में होने वाले गुरुओं का भी गुरु है, क्योंकि वह काल की अवधि के परे है। श्री व्यासदेव जी की अपने भाष्य की पंक्तियाँ—

पूर्वे हि गुरुवः कालेनावक्छेद्यन्ते, यत्रावक्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथाऽस्तिक्रांत सर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः।।26।।

अर्थात् वह ईश्वर सृष्टि के प्रारम्भ में होने वाले गुरुओं का भी गुरु है। क्योंकि वह काल की अवधि से परे है और अनन्त काल की प्रकर्षगति से सदा ही सिद्ध है और अनन्त काल की प्रकर्षगति से सदा ही सिद्ध है और जैसे वह इस समय सिद्ध है वैसे ही सृष्टि के बाद में, फिर अतिक्रान्त सर्गादियों में भी इस ही प्रकार से सिद्ध रहेगा ही रहेगा। उस ईश्वर का क्या नाम है, इस विषय में भगवान पतञ्जलिदेव जी बतलाते हैं कि—

तस्य वाचकः प्रणवः।।27।।

अर्थात् उसका बोधक नाम ओऽम् है। इस सूत्र पर दिये व्यास-भाष्य—

वाच्य ईश्वर प्रणवस्य किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वम् अथ प्रदीपप्रकाशवदस्थितमिति। स्थितोस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभि नयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्ष स्तथैव संकेतः क्रियते। सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थ सम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते।।27।।

अर्थात् प्रणव नाम का वाच्य ईश्वर है। यहाँ पर कोई प्रश्नकर्ता प्रश्न करते हैं कि इस ईश्वर का वाच्य वाचकत्व सम्बन्ध संकेत मात्र से है अथवा दीपक या दीपक के प्रकाश की तरह से हर समय विद्यमान है। उसका उत्तर यह देते हैं कि हां यहाँ पर वाच्य ईश्वर का सम्बन्ध वाचक के साथ सदा सर्वदा ही है। संकेत मात्र तो ईश्वर का जो नित्य सम्बन्ध वाचक के साथ विद्यमान है उसी को समझाता है। जैसे संकेत से यह समझाया जाता है कि यह इसका पिता है और यह उसका पुत्र है। इसलिये ईश्वर के साथ उसके वाचक का संबंध सदा सर्वदा है ही। और आगे भी रहेगा ही। सम्प्रतिपत्ति की नित्यता से यह सम्बन्ध भी नित्य ही है। इन सब बातों को वेद-पुराणों के ज्ञाता लोग जानते ही हैं। ईश्वर के प्रणव नाम का क्या करना चाहिये इसको बतलाते हुए भगवान पतञ्जलिदेव लिखते हैं—

तज्जपस्तदर्थभावनम्।।28।।

अर्थात् उस ईश्वर के प्रणव नाम का जप करना चाहिये और उसके अभिधेयायं वाच्य ईश्वर का ध्यान करना चाहिये इस पर व्यास देव जी का

भाष्य—

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम् तदस्य योगियः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते तथाचौक्तम् ''स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्। स्वाध्याय योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते''।28

अर्थात् प्रणव का जप करना चाहिये एवं प्रणवाभिधेय ईश्वर का ध्यान करना चाहिये। प्रणव का जप करने पर एवं प्रणवाभिधेय ईश्वर का ध्यान करने पर मन एकाग्र हो जाता है और मन के एकाग्र हो जाने पर परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। जैसाकि नियम भी हैं— स्वाध्याय से साधक योग को प्राप्त करे और योग से स्वाध्याय से साधक योग को प्राप्त करें और योग से स्वाध्याय का मनन करें। स्वाध्याय और योग दोनों की सम्पत्ति से परमात्मा का प्रकाश हो जाया करता है। इसी बात को समझाते हुए भगवान् पतंजलिदेव लिखते हैं कि—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोप्यन्तराया भावश्च।।29।।

अर्थात् प्रणव का जप करने पर एवं प्रणवाभिधेय का ध्यान करने पर उस प्रत्यक्चेतन की प्राप्ति होती है और अन्तराओं का अभाव हो जाता है। व्यास-भाष्य—

ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्गरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति यथैवेश्वरः पुरषः शुद्ध प्रसन्नः कवलो अपनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धः प्रतिसंवेदनीयं पुरुष इत्येवमधि गच्छति।।29।।

अर्थात् व्याधिस्त्यान, संशय, प्रमाद आदि जो भी अन्तरायें कहे गये हैं वे सबके सब प्रणव का जप करने से एवं प्रणवाभिधेय ईश्वर का ध्यान करने से एवं प्रणवाभिधेय ईश्वर का ध्यान करने से स्वतः ही हट जाया करते हैं और योगी को पूर्णरूपेण आत्म साक्षात्कार हो जाया करता है। अर्थात् जिस प्रकार से ईश्वर सदा शुद्ध प्रसन्न उपसर्ग रहित अपने स्वरूप में स्थित है, इसी प्रकार से यह बौद्धेय ज्ञान को आधार बनाने वाला जीवात्मा भी ईश्वर का ध्यान करने से एवं उसके प्रणवनाम का जाप करने से अपने स्वरूप को भली प्रकार से जान लेता है और बाद में सभी बौद्धेय धर्मों को छोड़कर के अपने नित्य चेतन, विकार रहित स्वरूप को प्राप्त कर लिया करता है। यह उस ईश्वर के अनुग्रह का फल निकलता है। भगवान पतञ्जलिदेव बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्धि एवं स्वरूपोपलब्धि समझाते हुए इस प्रकार लिखते हैं-

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।।45।।

अर्थात् ईश्वर को आत्म-निवेदन करने से साधक को अवश्य ही समाधि लाभ होता है।

व्यास भाष्य—

ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्ययया सर्वमीप्सितमवितर्थ जानाति देशान्तरे, देहान्तरे, कालान्तरे च। ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानानीति।।45।।

अर्थात् ईश्वर को आत्म-समर्पण करने से साधक को समाधि सिद्धि हो जाती है और सब इच्छित वस्तुओं को निर्विघ्न जानने लगता है और उसके बाद देशान्तर में, कालान्तर में और देहान्तर में भी इसकी बुद्धि यथावत् ज्ञान वाली हो जाया करती है।

इस प्रकार से योगदर्शनकार भगवान पतंजलि जी महाराज ने अपने योगदर्शन में समाधि सिद्धि के उपायों का वर्णन करते हुए ईश्वर की कृपा को भी समाधि सिद्धि का एक विशेष साधन बतलाया। इस सारे पूरे प्रकरण को पढ़ लेने पर भी जो लोग योगदर्शन को अनीश्वरवादी मानते हैं वह केवलमात्र उनकी अपनी बुद्धि का विकल्प है और ऐसा कहने में वही कारण भी है। केवलमात्र इतनी बात अवश्य है कि योगदर्शन का प्रतिपाद्य विषय प्रकृति-पुरुष-विवेक है। इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए जिस प्रकार से बाजार में एक घी वाले की दुकान है और वह घी का ही व्यापार करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह व्यक्ति घी बेचने के साथ-साथ मिश्री कोई चीज नहीं होती- अर्थात् मिश्री की कोई सत्ता ही नहीं है ऐसा कहता है यह बात नहीं है। उसका तो केवलमात्र अपनी घी की दुकान पर घी बेचने का ही काम है। यदि कोई ग्राहक आकर उससे यह पूछेगा कि भाई क्या बाजार में मिश्री की भी कोई दुकान है तो वह यह बिल्कुल स्पष्ट बतला देगा कि हां भाई थोड़ी दूर आगे चलने पर मिश्री की भी दुकान है। इसी प्रकार से यद्यपि योगदर्शन का प्रतिपाद्य विषय प्रकृति-पुरुष-विवेक है इसका अर्थ कोई व्यक्ति अपने मन में यह निकाले कि योगदर्शन ईश्वर को मानता ही नहीं है यह उसकी अपने मनकी भूल है। सभी विज्ञ साधक ऊपर के लेख को पढ़ करके इस बात को भली प्रकार से समझ जायेंगे कि योगदर्शन अनीश्वर वादी नहीं प्रत्युत ईश्वरवादी है, किन्तु उसका अपना प्रतिपाद्य विषय केवल प्रकृति-पुरुष-विशेष है। इस लेख से साधकों को योगदर्शन के द्वारा ईश्वर के स्वरूप का यथार्थ वर्णन पढ़कर लाभ उठाना चाहिये।

भोग और अपवर्ग

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमारे ऋषि-मुनियों के आदर्श सिद्धान्तों में दृश्य के दो भाग माने गये हैं। उनमें से दृश्य का एक भाग संसार के हर प्राणी को भोग-वाद की ओर प्रवृत्त किये रहता है और दूसरा भाग इस प्रकार का है, जिसको संसार वाले जान ही नहीं पाते कि दृश्य का वह कौनसा भाग है जिसको पाकर मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर लिया करता है। योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव जी ने अपने एक सूत्र में दृश्य का रूपक समझा करके इसे भोग और अपवर्ग का दाता बताया है। पढ़िये श्री पतञ्जलिजी महाराज के साधन-पाद में अठारहवें सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।।18।।

व्यास भाष्य—

प्रकाशशीलं सत्त्वम्, क्रियाशीलं रजः, स्थितिशीलं तम इति। एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोग-विभागधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्त्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसम्भिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्यजातीयाः। तुल्य-जातीयशक्तिभेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शितसन्निधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्नीतानुमि-तास्तिताः। पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्यतः सन्निधिमात्रोपकारि-णोऽयस्कान्तमणिकल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनु-वर्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति एतत् दृश्यमित्युच्यते। तदेतद् दृश्यं भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते तथेन्द्रिय भावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति। तत्तुनाप्रयोजनमपितु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्त्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद् दृश्यं पुरुषस्येति। तत्रेष्टानिष्ट गुणस्वरूपावधारणमविभापन्न भोगो भोक्तुः स्वरूपाव-धारणमपवर्ग इति। द्वयोरतिरिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति, तथा चोक्तम्—''अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषुअकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमामान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्नदर्शनमन्यच्छङ्कते'' इति।

तावेतौ भागापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव प्रवर्तमानौकथं पुरुषेऽपदिश्यते इति। यथा विजयः पराजयो वा योधेषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते स हि तस्य फलस्य भोक्तेति एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते स हि तत्फलस्य भोक्तेति। बुद्धेरेव पुरुषार्थपरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसायो मोक्ष इति। एते च ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वानाभि निवेशबुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपित सद्भावाः सहि तत्फलस्योपभोक्तेति।।18।।

अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण आत्मक और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पंचभूतात्मक और इसके साथ-साथ पृथ्वी की गन्धेन्द्रिय नासिका, जल की रसनेन्द्रिय जिह्वा, अग्नि की ज्ञानेन्द्रिय आँख, वायु की ज्ञानेन्द्रिय त्वचा, और आकाश की ज्ञानेन्द्रिय कर्ण, इस प्रकार से यह दृश्य सतोगुण, रजोगुण, तमोगुणात्मक एवं पंचभूतात्मक ओर पंचमहाभूतों की ज्ञानेन्द्रियात्मक है। दृश्य दो भागों में विभक्त रहता है। पहला भाग— भोगात्मक है, मनुष्य अपने शरीर में उत्पन्न विभिन्न प्रकार के गुणों की प्रधानतानुसार पंचमहाभूत और ज्ञानेन्द्रिय का अवलम्ब लेकर भोगार्थ प्रवृत्त रहता है। और दृश्य का दूसरा भाग जिसका अभी हम आगे चलकर स्पष्टीकरण करेंगे— इनमें से प्रकाश की प्रधानता वाला सतोगुण है एवं क्रियात्मक प्रवृत्तिशील रजोगुण है और जड़ता रूप स्थितिशील तमोगुण है। इस प्रकार से यह तीनों गुण एक दूसरे के साथ सम्बद्ध रहते हुए, तरह-तरह के विभाग वाले संयोग-वियोग के विभाग वाले रहते हैं। इनमें से अच्छे और बुरे गुण स्वभाव को धारण करने वाले विभाग में विभक्त होकर मनुष्य को संसार में भोगरत रखते हैं। और इस दृश्य का दूसरा भाग भोक्ता जीवात्मा को स्वरूप रूपस्थित बताता है। इन दो भागों के अतिरिक्त दृश्य का और कोई भाग नहीं है। इनमें से पुरुष जीवात्मा बिल्कुल अविकारी, अकर्ता है और दृश्य प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील प्रवृत्ति का दाता है, किन्तु पुरुष के अविकारी होने से किसी भी प्रकार की लिप्तता उसमें नहीं होती। यह सब दृश्य गुण भोग और अपवर्ग का दाता होते हुए भी बुद्धिकृत हैं, और बुद्धि में ही वर्तमान रहा करते हैं, किन्तु लोक व्यवहार में यह गुण बुद्धि में रहते हुए भी आत्मा में कहे जाते हैं। यद्यपि आत्मा बिल्कुल विकार रहित है उसके अन्दर सुख-दुःख आदि का कोई भी व्यवहार नहीं है फिर भी क्योंकि वह बौद्धेय बोध को देखता है इसलिये सुख-दुःख आदि बुद्धि के धर्म होते हुए भी आत्मा के धर्म कहे जाते हैं। इस बात को इस प्रकार से समझ लेना चाहिये जैसे कहीं पर बड़ा भारी युद्ध होता है उस युद्ध में वेतनभोगी सैनिक लड़ते हैं किन्तु उन दोनों

ओर के सैनिकों में से जब किसी की जीत हो जाती है तो कहने में यही आता है कि अमुक राजा की जीत हो गई। यद्यपि जय और पराजय है तो योद्धाओं की किन्तु मानी जाती है उनके मालिक राजाओं की। इस ही प्रकार से वन्ध्र और मोक्ष दोनों बुद्धि के ही धर्म हैं, किन्तु माने जाते हैं, जीवात्मा के। कथन में व्यावहारिकता से यह ही आता है कि अमुक व्यक्ति की मुक्ति हो गई या अमुक व्यक्ति जीवनमुक्त है,। यद्यपि बुद्धि के अन्दर जो प्रकाश क्रिया स्थिति शील गुण बने रहते हैं वही बन्धन का कारण बनते हैं और इन गुण सम्बन्धों का समाप्त हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। यह दोनों ही कार्य बुद्धि के अन्दर वर्तमान रहते हैं, किन्तु व्यावहारिकता में पुरुष के लिये कहे जाते हैं। सारा संसार इसी दृश्य के अन्दर बँधा हुआ चलता है। इसी दृश्य के बटवारे को उपनिषदों में श्रेय और प्रेय रूप से वर्णन किया गया है। कठोपनिषद् में इसका वर्णन इस प्रकार आता है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते
उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति।
हीयते अर्थाद्यऽप्रेयो वृणीते।।
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ
सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।

अर्थात् एक श्रेय और दूसरा प्रेय यह दोनों मार्ग ऐसे हैं कि बहुत विस्तार वाले हैं और जीवात्मा के बन्धन का कारण उनमें से वह व्यक्ति श्रेष्ठ है जो श्रेय मार्ग का अनुसरण करता है। इसके अतिरिक्त जो लोग प्रेय मार्ग की ओर प्रवृत्त रहते हैं वे सब अपने लक्ष्य से गिर जाया करते हैं। श्रेय और प्रेय मार्ग बन्धन के कारण तो दोनों ही हैं, परन्तु श्रेय मार्ग का अनुसरण करने वाले लोग बुद्धिमान होते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति श्रेय और प्रेय दोनों मार्गों को भली प्रकार से पहचान करके धीरतापूर्वक कल्याण हेतु श्रेय मार्ग का अनुसरण करता है। मन्द बुद्धि वाले पुरुष अपने योगक्षेम को लक्ष्य में रखकर प्रवृत्ति मार्ग में चित्ति को लगाते हैं। श्रेय मार्ग को मुमुक्षुजन ग्रहण करते हैं, क्योंकि इसके द्वारा इनको निःश्रेय-सिद्धि हो जाया करती है। प्रेय मार्ग को प्रवृत्ति मार्ग कहा गया है, क्योंकि जीव इन्द्रियों के रूप, रस, गन्ध आदि विषयों से आकर्षित होकर स्वाभाविक ही उस ओर प्रवृत्त होता है। यह मार्ग जीव के बन्धन का मार्ग है। प्रेय के अनुगामी व्यक्ति स्त्री, पुत्र, धन, मान, पद, प्रतिष्ठा आदि इस लोक तथा परलोक के भोग साधनों को ही सुखका आधार समझकर अत्यन्त ममता और आसक्तिपूर्वक उनकी प्राप्ति के उपायों में लगे रहते हैं। रजोगुण की प्रबलता के कारण वे शास्त्रों की अवहेलना करते हुए काम्य और निषिद्ध कर्मों में ही रत रहते हैं, एतदथ उन्हें अपने कर्मों का फल भोगने के लिये नाना योनियों में भटकना पड़ता है। यह जन्म-मरण, जरा, व्याधि आदि के महान कष्टों को भोगते हुए अत्यन्त क्लेशित रहा करते हैं। परमार्थ से भ्रष्ट होने के कारण वे कल्याण के भागी नहीं बन पाते। उपनिषदों में प्रेय-मार्गी व्यक्तियों की अधोगति का वर्णन करते हुए कहा गया है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः,
स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढ़ाः,
अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः।।

जब अन्धे मनुष्य को मार्ग दिखाने वाला भी अन्धा ही मिल जाता है तो वह अपने लक्ष्य पर न पहुँचकर बीज में ही ठोकरें खाता हुआ भटकता रहता है। ठीक यही दशा उन ज्ञानाभिमानियों की भी हुआ करती है, जो अविद्याग्रस्त होते हुए भी अपने आपको ही बुद्धिमान और विद्वान समझते हुए शास्त्र और महापुरुषों के वचनों की अवहेलना करके भोगों को भोगने तथा उनके उपायभूत अविद्यामय सकाम कर्मों में ही संलग्न होकर अमूल्य मानव जीवन को व्यर्थ खो देते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति-
येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते-
य उ विद्यायां रता।

अर्थात् जो मनुष्य भोगों में आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के सकाम कर्मों को करते हैं वे उन कर्मों के फलस्वरूप अज्ञान रूपी अन्धकार से परिपूर्ण विविध योनियों को प्राप्त होते हैं और ज्ञान के मिथ्याभिमान में मत्त होकर निष्क्रिय बने रहते हैं वे उनसे भी अधिक नीच-योनियों में जाते हैं।

इस प्रकार प्रेय-मार्ग आत्मा को अधोगति में ले जाने का मार्ग है आत्मोत्थान का साधन तो श्रेय-मार्ग ही है। गीता के १६ वे अध्याय में दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा के नाम से श्रेय और प्रेय का सविस्तार वर्णन किया गया है और दैवी सम्पदा को ही श्रेय का साधन बताया गया है।

दैवी सम्पदा क्या है? और आसुरी सम्पदा क्या है तथा दैवी सम्पदा श्रेय मार्ग का साधन किस प्रकार है? इसके सम्बन्ध में भगवान ने अपने मुखारबिन्द से कहा है—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय,
निबन्धाय आसुरी मता।

अर्थात् दैवी सम्पदा मनुष्य को मोक्ष प्रदान करती है और आसुरी सम्पदा उसे बन्धन में डालती है। दैवी सम्पदा की व्याख्या करते हुए भगवान ने कहा है—

अभयं सत्व संशुद्धि-
र्ज्ञान योग व्यवस्थितिः।

दानं दामश्च यज्ञश्च,
स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः,
शान्तिर पैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं,
मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः शौच-
मद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पद दैवी-
मभिजातस्य भारत।।

अर्थात् निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, परमात्मा को तत्व से जानने के लिये निरन्तर ध्यानाभ्यास में रत रहना, सात्विक दान, इन्द्रिय-निग्रह, भगवत् पूजन, अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण, मन्त्र-जप तथा वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन, तप-वाणी तथा मन की सरलता, मन-वाणी तथा शरीर से किसी भी प्राणी को किसी प्रकार से कष्ट न देना, सत्य और प्रिय बोलना, क्रोध का न होना, त्याग, शांति, किसी की निन्दा न करना, प्राणीमात्र में दया, विषय-भोगों में आसक्ति का न होना, हृदय की कोमलता, शास्त्र-विरुद्ध आचरण करने में लज्जा अनुभव करना, चंचलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, किसी से द्रोह न करना श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव ये सब दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुषों के लक्षण हैं। दैवी सम्पदा सम्पन्न व्यक्ति ही परम-कल्याण के भागी बना करते हैं। प्रतिकूले इनके प्रेय-मार्ग के अवलम्बी व्यक्ति आसुरी स्वभाव वाले हुआ करते हैं। उनका आचरण कैसा होता है, यह भी सुनिये भगवान के ही शब्दों में—

प्रवृत्ति च निवृत्तिं च,
जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो,
न सत्यं तेषु विद्यते।।
असत्यमप्रतिष्ठ ते,
जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्पर सम्भूतं,
किमन्यत्कामहैतुकम्।।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य,
नष्टात्मानाऽल्पबुद्धय।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः,
क्षयाय जगतोऽहिताः।।

आसुरी स्वभाव वाले लोग कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त होने और निषिद्ध कर्मों से निवृत्त होने का ज्ञान नहीं रखते। अतः उनमें पवित्रता, सदाचार और सत्य भाषण नहीं हुआ करता। वे कहा करते हैं कि यह संसार स्त्री, पुत्र के संयोग से उत्पन्न हुआ है, अतः केवल भोगों के भोगने के लिये ही है। ईश्वर की कोई सत्ता ही नहीं है, उसकी मिथ्या कल्पना की गई है। ऐसी मिथ्या मान्यता से नष्ट हुए स्वभाव वाले मन्द बुद्धि वाले लोग दूसरों का अहित ही किया करते हैं। ऐसे क्रूरकर्मी मनुष्य केवल संसार का नाश करने के लिये ही उत्पन्न हुआ करते हैं। अतः श्रेय-मार्गावलम्बियों को आसुरी सम्पदा का त्याग करके श्रेष्ठ व दैवी सम्पदा को ही अपनाना चाहिये।

इसी बात का संकेत करते हुए आनन्दकन्द अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के ६९ वें श्लोक में स्पष्ट कह दिया है—

या निशा सर्वभूतानां
तस्यां जागर्ति सयमी।
यस्य जाग्रति भूतानि
सा निशा पश्यतो मुनेः।।

अर्थात् सांसारिक लोगों की जो रात है, मुनि लोग उसमें जागते रहा करते हैं और जिस दिन में सांसारिक लोग जगते रहते है मुनि लोग उस दिन में सोया करते हैं। कहने का अभिप्राय वही है जो इस लेख में पहले भली प्रकार समझा दिया गया है। अर्थात् सतोगुण, रजोगुण, तमोगुणात्मक पंचमहाभूतात्मक एवं पंच ज्ञानेन्द्रियात्मक जो भी दृश्य है वह दो रूपों के अन्दर बदला रहता है एक तो वह रूप है जिसमें सांसारिक लोग जागते रहते हैं उनकी चहल-पहल चलती रहती है और उत्तरोत्तर कामनाओं का विस्तार होता रहता है। एक कामना की पूर्ति कर पाते हैं तब उसके साथ ही दूसरी कामना प्रारम्भ हो जाती है यथा-तथा करके यदि उस कामना को भी पूर्ण कर लें तो तीसरी कामना जाग्रत हो जाती है व अहंकार, बल और दर्प में फँसे हुए अपने आपको नरक के गर्त की ओर खींचते रहते हैं। उनकी दशा इस प्रकार रहती है—

आशापाशशतैर्बद्धाः
कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थन-
न्यायेनार्थ सञ्चजात्।।
इदमद्य मया लब्ध,
मिम प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि में
भविष्यति पुनर्धनम्।।
असौ मया हतः शत्रु-
र्हनिष्ये चापरानपि।

ईश्वरोऽहमहं भोगी
सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।
आढय्योऽभिजनवानस्मि
कोऽन्योऽस्ति सदृश्यो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य
इत्यज्ञानविमोहिता:।।
अनेकचित्तविभ्रान्ता
मोहजालसमावृता:।
प्रसक्ता: कामभोगेषु
पतन्ति नरकेऽशुचौ।।

अर्थात् ये लोग सैकड़ों प्रकार के आशापाशों से बद्ध होकर काम क्रोध में लगे हुए काम और भोगों में परायण होकर अधिक भोग के साधनों को प्राप्त करने हेतु लालसापूर्वक़ अन्याय से अर्थ संचय करते हुए अपने मन में कामनायें करते रहते हैं कि यह वस्तु आज मैंने प्राप्त कर ली है और इस मनोरथ को कल प्राप्त कर लूँगा, आज उस शत्रु को मैंने मार दिया है कल दूसरे को भी मैं मार डालूँगा। मैं हीं ईश्वर हूँ, बलवान हूँ और सभी प्रकार से मान का पात्र हूँ। मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, इसी प्रकार के अन्यान्य कार्य भी करूँगा। इस प्रकार यह सब मानसिक जालों से घिरे हुए, मोह-जाल से ग्रस्त काम-भोगों में प्रसक्त अपवित्र नरकार्णव को भोगते हैं। यह होता है दृश्य का वह दूसरा भाग जिसको भोग भाग कहा जाता है। इसी को उपनिषदों में प्रवृत्ति मार्ग कहा गया है। प्रवृत्ति और निवृत्ति के सिद्धान्तों को असुर लोग बिल्कुल नहीं समझते। इसलिये वे प्रवृत्ति में फँसे हुए, दु:ख योनियों में पड़ते रहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील पंच-महाभूतात्मक पंचज्ञानेन्द्रियात्मक दृश्य का वह दूसरा भाग है जिसमें सांसारिक लोग तो सोये रहते हैं पर मुनिर लोग जागते रहते हैं। दृश्य का यही भाग अपवर्गार्थ कहलाता है। अर्थात् इसमें ज्ञानेन्द्रियों का भीतरी भाग काम करता है। दृश्य तो वही होता है किन्तु अपवर्गार्थ दृश्य अन्तर जगत के दर्शन कराता है। मनुष्य जिस समय सम्प्रज्ञात योग का विद्यार्थी बन जाता है उस समय वितर्कानुगत योग और आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत इन्हीं आध्यात्मिक दृश्यों को देखते हुए वह सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

इसी लक्ष्य को लेते हुए अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने उपरोक्त- **''या निशा सर्व भूतानां तस्या जागर्ति संयमी''** वाले श्लोक में स्पष्ट निर्देश किया है कि हर अध्यात्म प्रधान साधक को इस दिव्य दुनिया का अवलोकन करना चाहिये। सन्तों को आन्तरिक जगत की अनुभूति का अभ्यास तो करते ही रहना चाहिये, जिससे वे अन्तर्जगत में प्रवेश करके अपवर्ग प्राप्ति को सुलभ बना सकें। ऐसी स्थिति उपलब्ध हो जाने के बाद दिन व रात में कभी भी योगी ध्यानाभ्यास कर सकता है। जब भी वह अपने अभ्यास में बैठेगा तो उसको अन्तर्जागृति के कारण अनुभव शुरू हो ही जायेंगे, किन्तु फिर भी देखने में आता है कि हरिद्वार, ऋषिकेश, श्री वृन्दावन एवं गोवर्धन आदि स्थानों में निवास करने वाले संत रात्रि में ही अधिक अभ्यसारत रहा करते हैं। अंशत: यह उचित भी है। इसका कारण केवलमात्र यह है कि रात्रि में सभी संसार वालों के मन प्रसुप्त रहते हैं और प्रसुप्त मन किसी भी प्रकार से अधिक प्रगतिशील न होने के कारण योगी के अभ्यास में अन्तरायें नहीं पैदा कर पाते। इस दृष्टि से अभ्यास काल तो रात्रि ही ठीक रहता है। सन्त लोग प्राय: रात्रि में ही अभ्यास करते हैं। उनकी स्थिति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। क्योंकि रात्रि का वातावरण बिल्कुल शान्त रहता है तथा उनकी निद्रा भी अपवर्गार्थ दृश्य में सहायक हो जाती है। वह अपनी निद्रा को योग-निद्रा के रूप में परिवर्तित कर लेते हैं। उनकी निद्रा—

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।

योग-निद्रा के रूप में बदल जाती है। निद्रा भी स्वाभाविक अभ्यास का एक उत्तम साधन है। कबीर साहब की ऐसी युक्ति है—

सोना तो सबसे भला, जो कोई जाने सोय।
अंतर लौ लागी रहे, सहजहिं सुमिरन होय।।

जो लोग रात्रि को सोते समय ध्यान-मग्न होकर सो जाया करते हैं उनका वह शुद्ध चित्त का अभ्यास निद्रावस्था में भी चलता रहा करता है। और ऐसे सोने वाले संत योग को नींद योग के रूप में परिवर्तित कर लेते हैं। इस बात की पुष्टि करते हुए भगवान पतञ्जलि देव ने भी—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा।

यह सूत्र कहकर निद्रा ज्ञान को भी अपवर्ग का एक साधन बताया है। निद्रा ज्ञान भी अपवर्गार्थ अभ्यास करने वाले अभ्यासियों के लिये शान्ति का साधन बन जाता है। पहले अभ्यासी शयन करते समय स्वप्न ज्ञान के रूप में अपने आपको बदलता है और वही स्वप्न ज्ञान पूर्णरूपेण अध्यात्म जाग्रति करता हुआ वृत्ति-निरोध तक पहुँचा देता है। अर्थात् शनै:-शनै: योगी निर्विकल्प समाधि का अभ्यासी बनने लगता है। वृत्ति शून्य ध्यान का लक्षण करते हुए, सांख्य दर्शन में कहा गया है—

'ध्यानं निर्विषयं मन:।' अर्थात् वासना रहित मन एक उत्तम चिन्तन का विषय बन जाता है और उससे अपवर्ग साधन होने लगता है। इसलिये इस लेख में दृश्य के जो दो भाग समझाये गये हैं उनमें अपवर्गार्थ दृश्य ही मुक्ति का एक प्रमुख साधन बन जाया करता है। इसलिये प्रत्येक साधक को चाहिये कि दृश्य के इन दोनों भागों को समझकर अपवर्गार्थ दृश्य में लग जाने का संकल्प लें। इस प्रकार अभ्यास करने वाले साधक अवश्य ही अपने अभ्यास को शनै:-शनै: बढ़ाते हुए आत्मिक दृश्यों के दृष्टा बन जायेंगे एवं सभी प्रकार की कामनाओं से रहित होकर के शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेंगे जो कि मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है।

कर्म-विपाक एवं कर्म-वासना

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्रीमद्भगवद् गीता में आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्ण ने दो श्लोकों में कर्म-विवेचना करते हुए कर्मगति को बहुत ही गहन बतलाया है। कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इसको बड़े-बड़े विद्वान भी नहीं समझ पाते। वे अपने मुखारविन्द से इस बात को स्वयं स्वीकार करते हैं कि—

किं कर्म किमकर्मेति
कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि
यज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात्।।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं
बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं
गहना कर्मणो गतिः।।

अर्थात् कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस विषय को बड़े-बड़े विद्वान कविगण भी नहीं समझ सके हैं, इसलिये हे अर्जुन! मैं तुम्हें कर्मों का स्वरूप समझाता हूँ जिसको समझकर मनुष्य कर्म के बंधन से छूट जाया करता है। तुम कर्मों को भी समझो, साथ ही विकर्मों को समझो और इसके साथ-साथ अकर्मों को भी समझो, क्योंकि कर्मगति बहुत ही गहन है। कर्मगति को बड़े-बड़े योगी और विद्वान भी नहीं समझ पाते।

इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने कर्मगति को बहुत ही गहन बतलाया है जिसे हर व्यक्ति को समझ लेना सहज सम्भव नहीं होता है। योगदर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने कर्म-जाति को चार प्रकार से समझाया है। उन्होंने साथ ही साथ यह भी समझाया है कि वह चतुर्विध कर्म-जाति कहाँ-कहाँ लागू होती है और किस प्रकार के कर्मों को करता हुआ मनुष्य किस-किस प्रकार के कर्म-विपाक का भागी हुआ करता है।

भगवान पतञ्जलिदेव की बतलाई हुई यह चतुर्विध कर्म-जाति जिसका नीचे उल्लेख किया जा रहा है वही भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में कर्म, विकर्म एवं अकर्म में विभक्त है। केवलमात्र समझाने का रूपान्तर है जिससे मनुष्य शब्दात्-भेद से इसको भली प्रकार से समझ सके। यथा—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।।

—योगदर्शन ४-७

अर्थात् कर्म-जाति में चार प्रकार के कर्म हुआ करते हैं। पाप-कर्म, पुण्य-कर्म, पाप और पुण्य के मिले-जुले कर्म और न पाप के न पुण्य के (केवलमात्र क्रियात्मक रूप से किये जाने वाले कर्म)! यह चतुर्विध कर्म-जाति भगवान पतञ्जलिदेव ने अपने योगदर्शन में बतलाई है और साथ ही यह भी बतला दिया है कि इस चतुर्विध कर्म-जाति में तीन प्रकार का कर्म सांसारिक लोग किया करते हैं और केवलमात्र क्रियात्मक कर्म केवल योगी ही करते हैं। पढ़िये इस सूत्र पर भगवान व्यास देव जी प्रमाणितकता-

चतुष्पात् लल्वियं कर्मजातिः-कृष्णा, शुक्लाकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाकृष्णाचेति, तत्र कृष्णा दुरात्मनां शुक्लाकृष्णा बहिः- साधनसाध्या तत्र परपीड़ाऽनुग्रहद्धारेण कर्माशयप्रचयः शुक्ला तपःस्वाध्यायध्यानवतां सा हि केवले मनस्याय-त्तत्वादबहिः साधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति अशुक्ला-कृष्णा सन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति, तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासाद् अकृष्णं चानुपादानाद् इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव विविधमिति।।7।।

अर्थात् यह कर्म-जाति चार प्रकार की है। कृष्णा— अर्थात् पाप कर्म, शुक्लाकृष्णा— पाप और पुण्य के मिले हुए कर्म और तीसरे शुक्ला अर्थात् केवलमात्र पुण्य के कर्म और चौथे ऐसे कर्म होते हैं जो आशुक्लाकृष्णा अर्थात् न वे पाप के होते हैं और न पुण्य के। यह चौथी प्रकार के कर्म केवलमात्र क्रियारूप ही हुआ करते हैं। जैसे एक व्यक्ति स्वाभाविक रूप से हाथ हिलाता है उस हाथ के हिलाने में उसका अपना कोई लक्ष्य नहीं रहता, वह कर्म केवल हरकत मात्र का ही कर्म है। उसमें पाप-कर्म केवलमात्र दुरात्माओं के ही हुआ करते हैं और इसके अतिरिक्त जो कर्म पाप और पुण्य के मिले हुए हुआ करते हैं, ऐसा कर्माशय दूसरों को दुःख देना या किसी पर अनुग्रह कना आदि और कर्मों से प्रचय किया जाया करता है। सांसारिक लोग संसार में रहते हुए अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के कर्मों को करते रहते हैं। ऐसे कर्मों का परिणाम परपीड़न भी होता है एवं अनुग्रह भी। जैसे कोई यज्ञ, दानादि शुभ कर्म कर रहा है और उसके बीच में ही काम, क्रोध आदि के वश में होकर किसी को ताड़ना देता है, मारता या पीटता है तो वह व्यक्ति यज्ञ, दान आदि करते हुए भी साथ-साथ परपीड़न आदि जो कर्म कर रहा है, वे सभी कर्म परपीड़न आदि क्लिष्ट कर्म कहलाते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य के चित्त में क्लिष्टाक्लिष्ट दोनों प्रकार

की चित्त-वृत्तियों का प्रवाह चलता रहता है। अत: ऐसा चित्त दोनों प्रकार के पाप-पुण्य प्रधान कर्माशय के प्रचय का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त तीसरा कर्माशय केवलमात्र शुक्ला कर्मों का हुआ करता है। अर्थात् उसमें मनुष्य केवलमात्र पुण्य ही पुण्य के कर्म किया करता है, जिनके करने से केवल मात्र पुण्य प्रधान कर्मों के प्रचय का आधार हुआ करता है यह शुक्लात्मक कर्म अर्थात् पुण्य प्रधान कर्म केवलमात्र तप स्वाध्याय के द्वारा ध्यागयोग प्रधान अर्थात् नित्य नियमानुसार ध्यानाभ्यास करने वाले ध्यानियों का होता है। इसमे मानस चिन्तन ही प्रधान कारण रहता है। एकान्तवास करने वाले एवं नित्य नियमानुसार ध्यानाभ्यास करने वाले साधको के लिए परपीड़न आदि का तो प्रश्न पैदा ही नहीं होता, वे लोग तो केवलमात्र अपने मानस चिन्तन के द्वारा किसी दूसरे का अहित न करके अपने ही आत्म-कल्याण के निमित्त ध्यानाभ्यास करते हैं। इसलिये उनका कर्माशय प्रचय केवलमात्र शुक्लकर्मात्मक अर्थात् पुण्य प्रधान ही हुआ करता है। इसके बाद जिन लोगों के कर्म-बन्धन क्षय हो जाते हैं, जो लोग कर्म-बन्धन से परे होकर क्षीण-क्लेश संन्यासी बन जाते हैं अर्थात् जिनको कृत-कृत्यता प्राप्त हो जाती है वे कर्मजाल से परे होकर कर्म-विमुक्त हो जाया करते हैं। उनके लिये हमारे शास्त्र बतलाते हैं—

भिद्यते हृदय ग्रन्थि

क्षिद्यन्ते सर्व संशय:।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि

तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

अर्थात् **'तस्मिन परावरे दृष्टे'** अस्य योगिन: कर्माणि क्षीयन्ते हृदय ग्रन्थि विद्यते सर्व संशय: क्षिद्यन्ते। अर्थात् इस योगी को परावर दृष्टि हो जाने के बाद सब संशयों का नाश हो जाता है। कर्म-बन्धन क्षय हो जाते हैं एवं हृदय-ग्रन्थि खुल जाया करती है ऐसे योगी क्षीण क्लेशों वाले केवलमात्र लोकोपकार के लिये ही शरीर को धारण करने वाले चरमदेह वाले कहलाया करते हैं, अर्थात् वे लोग जन्म-मरण से परे होकर अपने ही शुद्ध स्वरूप में स्थित रहा करते हैं। उनका वह शरीर केवलमात्र पिछला शरीर हुआ करता है। उस शरीर के बाद उनको दुबारा शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनको चरम देह वाले कहा गया है। अत: सिद्धान्त की बात यह रही कि पाप के कर्म, पुण्य के कर्म और पाप और पुण्य के मिले-जुले कर्म ये तीनों जातियाँ संसार वालों की होती हैं और पाप-पुण्य रहित आशुक्लाऽकृष्णा कर्म केवलमात्र चरम-देह धारण करने वाले योगियों के हुआ करते हैं। इन्हीं चार प्रकार के कर्मों के कर्माशयों का प्रचय होता रहता है। तीन प्रकार के पाप, पुण्य एवं पाप और पुण्य के मिले-जुले कर्माशयों द्वारा जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। किन्तु जो लोग क्षीण क्लेश एवं चरम-देहधारी हो जाते हैं, उनका कर्माशय प्रचय नहीं होता। वे तो केवलमात्र जितने दिन भी इस शरीर में रहते हैं, सदा क्रियात्मक कर्म ही किया करते हैं और कर्माशय प्रचय उन्हीं का होता है, जिनमें कर्मों के अच्छे-बुरे भोग को देने वाले कर्म रहा करते हैं। भगवान पतंजलिदेव इस सिद्धान्त को इस प्रकार से समझाते हैं—

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।।8।।

अर्थात् मनुष्य का जैसा कर्म-विपाक होता है उस कर्म-विपाक के अनुसार ही उसके अंदर कर्म-वासना रहा करती है। वह कर्म-वासना ही मनुष्य को जन्म देने का कारण बना करती है। एक प्रकार से कर्मफल के अन्दर उस फल के बीज रूप से वह वासना ही मन में कायम रहती है। पढ़िये इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी के विचार—

तत इति त्रिविधात्कर्मण: तद्विपाकानुगुणानामेवेति यत्र-आतीयस्य कर्मणोयो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासना कर्म-विपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्ति:। न हि दैवं कर्म विपक्यमानारकतिर्यङ् मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं संभवति किन्तु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते। नारकतिर्यङ्-मनुष्येषु चैवं समानश्चर्य:।।8।।

अर्थात् कर्मों में यदि मनुष्य पाप कर्म-विपाक भोग रहा है तो उस दशा में पापकर्म विपाक के अनुसार ही वासना बनेगी, क्योंकि वासना दूसरे जन्म की दात्री बीज स्वरूपा है। यदि मनुष्य पुण्य कर्म विपाक का उपभोक्ता है तो उस पुण्य कर्म विपाक के अनुसार ही वासना बनेगी और वैसा ही मनुष्य का तदनुरूप दूसरा रूप तैयार हो जायेगा। यदि मनुष्य पाप और और पुण्य मिले-जुले कर्मों का उपभोग कर रहा है तब उसकी वासना भी वैसी ही बनेगी और वह वासना तदा जातीय संस्कारों को ही पुष्ट करेगी। कहने का अभिप्राय केवलमात्र यही है कि मनुष्य जैसे-जैसे कम फलों का उपभोक्ता होता है वैसी-वैसी ही वासना भी उसमें पैदा होती रहती है। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई मनुष्य यदि दैविक कर्म-विपाक को भोग रहा है तब इस हालत में उसके मन के अन्दर नरक एवं तिर्यक योनि की वासना पैदा हो जाय ऐसा बिल्कुल नहीं हो सकता। जैसे-जैसे कर्म-विपाक को मनुष्य भोगता है वैसी-वैसी वासना भी उसके मन में पैदा होती रहती है। यदि वह दैविक कर्म-विपाक भोगता है तो दैवी वासना, और यदि वह कोई कठिन क्लिष्ट घोरतम दु:खदायक संस्कार का उपभोग करता है तो वैसी स्थिति में नरक तिर्यक आदि की वासना ही पैदा हुआ करती है और तदुनसार वैसा ही उसका जन्म भी हो जाया करता है। मनुष्य जीवन की समाप्ति काल में जैसा-जैसा कर्म-विपाक भोगते हुए मनुष्य अपने शरीर को छोड़ा करता है। वैसा-वैसा ही उसका जन्म भी हुआ करता है। आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में इस सिद्धान्त की ही पुष्टि की है। भगवान ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है—

अन्तकाले च मामेव,

स्मरन्मुक्त्वा क्लेवरम्।

य: प्रयाति स मद्भावं,

याति नास्त्यत्र सशय:।।

यं यं वापि स्मरन्भावं,
त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय,
सदा तद्भावभावितः।।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु,
मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पित मनोबुद्धि-
ममिवैष्यस्यसंशम्।।

— गीता 8/5-6-7

अर्थात् शरीर के अन्त काल में जो व्यक्ति मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है वह मुझको ही प्राप्त हो जाता है, इसमें कोई भी शङ्का की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त जिन-जिन भावों का स्मरण करता हुआ मनुष्य देह त्याग करता है वह उन भावों की वैसी ही प्रेरणा पाकर वैसा ही जन्म ग्रहण कर लिया करता है। इसलिये हे अर्जुन! तू हर समय मेरा चिन्तन करता हुआ युद्ध कर, ऐसा करने से मुझको ही प्राप्त हो जावेगा।

अत: अब यह बात सिद्ध हो गई कि मनुष्य अपने कर्म-विपाक के अनुसार उस समय जैसी उसकी दु:ख या दु:ख की वासना होती है वैसा ही वह जन्म ग्रहण किया करता है। यही कारण है कि हमारे सभी संतों ने, पुराणों ने एवं इतिहास ने भी मनुष्य-जन्म की दुर्लभता बतलाई है। क्योंकि साधारणतया संसार में जन्म लेने वाले सभी मनुष्यों का कर्म-विपाक अधिकांश रजोगुण एवं तमोगुण प्रधान ही हुआ करता है और पूरा जन्म इन्द्रिय जन्य भोगों को भोगते-भोगते मरणकाल तक मनुष्य बिल्कुल शक्ति से हीन हो जाया करता है। इसलिये मृत्युकाल में जब कठोरतम कर्म-विपाक को भोगते हुये प्राणों का घर्षण होने लगता है एवं रुक-रुक करके बड़ी कठिनता से श्वांस बाहर आते हैं, उस समय वह दु:ख इतना कष्टदायक होता है कि मनुष्य से कोई शुभ चिन्तन बन ही नहीं सकता। कठिन कर्म विपाक के कारण मृत्युकाल में उसके मन में वासनायें भी दु:खमयी ही होती हैं, जिनका परिणाम यह निकलता है कि मनुष्य का वर्तमान जन्म तो समाप्त हो जाता है पर क्लिष्ट कर्म-विपाक की क्लिष्ट वासनाओं के अनुसार ही प्राणी अब तक मनुष्य जन्म में था प्राणान्त हो जाने के बाद नरक एवं तिर्यक आदि योनि में प्रवेश कर जाया करता है। फिर उन योनियों में जैसे-जैसे दु:खों को वह प्राणी भोगता है तदनुरूप ही उसकी वासनायें बन जाती हैं। ये वासनायें उन्हीं नारकीय एवं तिर्यक आदि योनियों में उसको जन्म देती रहती हैं, क्योंकि ये सब योनियाँ भोग-योनियाँ हैं। इन योनियों में प्राणी कोई शुभाशुभ कर्म तो कर ही नहीं सकता, प्रत्युत जैसे-जैसे कर्म-विपाक का वह भोग करता है वैसी ही मृत्युकाल में वासनायें भी बनती हैं और फिर इन वासनाओं के फलस्वरूप अन्यान्य योनियां भी मिलती चली जाया करती हैं। संस्कार भोग के अनुरूप प्राय: इसी प्रकार की योनियाँ मिलती रहती हैं। अन्तिम परिणाम यह निकलता है कि एक लम्बे भोगकाल के बाद ही किसी प्रबल पुण्य के बल से हमें पुन: मनुष्य जन्म की प्राप्ति हुआ करती है। यही कारण है कि हमारे सभी शास्त्र और धर्म-परायण विद्वानों ने मनुष्य जन्म की दुर्लभता बतलाई है। यह दूसरी बात है कि कोई मनुष्य, मनुष्य जन्म धारण करके तीव्रतम् तप या स्वाध्याय करे या समाधि लगाये।

सर्व समर्थ सिद्ध महात्माओं की सेवा करे तो वह दृष्टि जन्म संवेदनीय कर्मों को तैयार कर लें। ये दृष्टि जन्म संवेदनीय कर्म बड़े ही तीव्र संवेग वाले हुआ करते हैं जिनको अपने प्रबल प्रभाव से दूसरा उत्तमोत्तम कर्माशय का प्रचय करके मनुष्य जन्म का ही कारण बन जाया करता है। किन्तु यह दृष्टि-जन्म-संवेदनीय कर्माशय सभी मनुष्यों का नहीं हो पाता। साधारणतया सभी मनुष्य प्राय: प्रवृत्ति-मार्ग में फँसे रहते हैं, और प्रवृति-मार्ग के अन्दर किसी प्रकार का अध्यात्म विकास जप, तप, और संयम प्राय: बन ही नहीं पाता है। सन्त, महात्मा, तपस्वी एवं सर्व समर्थ सिद्ध लोगों की सेवा का तो अवसर ही नहीं निकल पाता। अत: मनुष्य के अपने साधारण प्रारब्ध के अनुसार जैसा-जैसा कर्म-विपाक होता है उसी का उपभोग मनुष्य कर पाता है। भगवान की त्रिगुणात्मिका माया का बन्धन इतना बुरा है कि कोई मनुष्य उसको तोड़ ही नहीं पाता। कोई-कोई बिरले भाग्यवान ही ऐसे होते हैं जो इन माया-बन्धनों से मुक्त होकर अपने भविष्य का उत्तम निर्माण कर लें। अन्यथा 'गतानुगतिकोलोक:' के नियमानुसार मनुष्य अपने प्रारब्ध को भोगता हुआ चलता रहता है और यह प्रारब्ध प्राय: रजोगुण तमोगुण प्रधान होने के कारण क्लेश और प्रवृत्ति का दाता ही रहता है, जिसके कारण भव-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना अत्यन्त ही दुर्लभ हो जाया करता है। केवलमात्र कोई भाग्यशाली व्यक्ति ही परमात्मा की कृपापूर्वक महापुरुषों का सत्संग लाभ प्राप्त करता है। और उस सत्संग लाभ को प्राप्त करके अपने आपको दुष्प्रवृत्तियों से निकाल कर वह शुभ प्रवृत्तियों की ओर बढ़ जाया करता है। ऐसे व्यक्ति के लिये मनुष्य जन्म की दुर्लभता नहीं रहती। प्रत्युत् उन दृश्य जन्म संवेदनीय कर्मों की प्रेरणा को पाकर अपनी उत्तमोत्तम प्रगति को वह बढ़ा लिया करता है। तथा मनुष्य जन्म की दुर्लभता को हटाकर सुलभता की ओर बढ़ जाया करता है। जो मनुष्य यह जीवन धारण करके अपने आपको तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान एवं महापुरुषों की सेवा करता रहता है तथा अपनी इन्द्रियों पर निग्रह करके अपने आपको ध्यानयोग-परायण बना लेता है, उसका कठिन कर्म-विपाक भी बहुत ही सूक्ष्म होकर निबट जाया करता है। योगदर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने कर्म-जाति के चार मार्ग लिखे हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार के कर्म होते हैं जो कर्माशय में प्रसुप्त रहा करते हैं। एवं कुछ कर्म ऐसे हुआ करते हैं, जो उपभोग काल में हलके बन जाया करते हैं। अर्थात् उनका तन्वीयकरण हो जाया करता है। एवं कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो दूसरे कर्म के तीव्रतम भुगतान में आकर विच्छिन्न हो जाया करते हैं, और कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं जो उदार कहलाते हैं। इन सभी कर्मों की मूल अविद्या कहलाती है। किन-किन प्रकार के कर्म विपाकों का

किस-किस प्रकार से भुगतान होता है और साधक अपने आपको 'दृश्य जन्म संवेदनीय' कर्मों के द्वारा कैसे अपने आपको उन्नत कर सकता है इसका व्याख्यान इस निम्नांकित सूत्र में हम पाठकों को समझा देना चाहते हैं। सूत्र इस प्रकार है—

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।।4।।

अर्थात् प्रसुप्ततनु, विच्छिन्न एवं उदार संस्कारों की जननी अविद्या होती है। श्री व्यासदेव ने अपने व्यास भाष्य में किन संस्कारों का किस प्रकार से भुगतान होता है, इसको बहुत ही स्पष्टतया समझाकर लिखा है जिसे हर साधक यह भली प्रकार से समझ सकता है कि अपने कठिन कर्म विपाक को किस प्रकार जल्दी से जल्दी निबटा करके वह उत्तम प्रारब्ध बना सकता है। पढ़िये श्री व्यासदेव जी का भाष्य—

अत्राविद्या क्षेत्रम्— प्रसवभूमिः, उत्तरेषाम्— अस्मिताऽऽदीनां चतुर्विध कल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्, तत्र काप्रसुप्तिः? चेतसिशक्तिमात्र प्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः, तस्यप्रबोध आलम्बने संमुखीभावः प्रसङख्यानवतो दग्ध-क्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुरस्ति, दग्ध-बीजस्यकुतः प्ररोह इति। अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सममुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिः दग्धबीजानामप्ररोहश्च। तनुत्वमुच्यते। प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्ना, कथं रागकाले क्रोधस्यादर्शनाद् न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति रागश्च क्वचिद्दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्नि। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्तः किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति।

विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। सर्व एवैते क्लेश-विषयत्वप्रत्ययं नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्त-स्तनुरुदारो वा क्लेश इति उच्यते सत्यमेवैतत्, किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वं। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जोनेनाभिव्यक्त इति। सव एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात् सर्वेष्वविद्यैववाभिप्लवते। यद-विद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशाः, विपर्य्याप्रत्ययकाल उपलभ्यन्ते, क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति।।4।।

अविद्या आदि पांचों क्लेश ही संस्कार से बढ़ करके प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार रूप धारण किया करते हैं। इन चारों प्रकार के प्रसुप्त, तनु, विच्छिप्त और उदार रूप संस्कारों का क्या रूपक है वह यहाँ समझाया गया है। योगाचार्य श्री व्यासदेवजी महाराज ने संस्कारों की इन चारों अवस्थाओं को इस प्रकार से वर्णित किया है— प्रसुप्त संस्कार ऐसे योगी लोगों के हुआ करते हैं जो अपने योग-ध्यान के बल से पूर्णरूपेण स्वरूपावस्थित हो चुकते हैं एवं प्रतिक्षण अपने नित्य शाश्वत स्वरूप में लीन रहा करते हैं। उनके ये संस्कार दग्धबीज हो जाते हैं, क्योंकि वह योगी चर्मदेही है, अर्थात् उसका यह शरीर पिचला शरीर है। जब तक वह अपने इस शरीर को इस लोक में रखना चाहेगा तब तक ही वृत्ति सारूप्य के कारण निमित्तमात्र संस्कारों का उपभोक्ता बना रहेगा। साधारण रूप से कहने मात्र के लिये लौकिक व्यवहार खाना, पीना, सोना, उठना-बैठना आदि कार्य करता रहेगा, उसके अन्तःकरण में जन्म-जन्मान्तर के जो प्रसुप्त संस्कार पड़े हुए हैं, ऐसे योगी के प्रसन्ख्यान बल से दग्धबीज हो जाया करते हैं, और दग्धबीज हो जाने पर उनकी पुनः उपपत्ति नहीं हुआ करती।

ऐसा होना एक नियम की बात है जैसे कि खेत में बोये जाने वाले बीजों को यदि हम अग्नि में भून करके उनकी जनन-शक्ति को जला दें और फिर उन भुने हुए बीजों को किसी उपजाऊ जमीन में भी बो दें, तो वे पैदा नहीं हुआ करते। क्योंकि उनकी बीज शक्ति अग्नि से जल चुकी है। इसी प्रकार जो योगी परावर दर्शन के बाद क्लेशों से अभिभूत नहीं होते एवं अपने आत्म-स्वरूप में प्रतिक्षण स्थिति रहा करते हैं, उनके अन्तःकरण में जो संस्कार जन्म-जन्मान्तरों के प्रसुप्त रूप से पड़े हुए हैं वे केवलमात्र बीज भाव से अवस्थित रहते हैं, किन्त निर्बीज समाधि में समाधिस्थ रहने वाला योगी अपने प्रसन्ख्यान बल से ऐसे सभी प्रसुप्त संस्कारों का प्रारोहण शक्ति को जला चुका है अतः उनकी पुनरोत्पत्ति नहीं होती। ऐसे चरम-देहधारी योगी के सामने यदि किसी प्रकार का कोई विषय जाल आ भी जाता है तो वह विषय जाल उसके मन पर कोई प्रभाव नहीं डालता, क्योंकि वह योगा अपने उन संस्कारों को प्रारोहण शक्ति रहित अर्थात् दग्धबीज बना चुका हैं ऐसी स्थिति को ही प्रसुप्त रूप से वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त प्रतिपक्ष से दबाये हुए संस्कार हल्के हो जाया करते हैं। यही उन संस्कारों का तन्वीकरण कहलाता है।

श्री व्यासदेवजी ने एक उदाहरण दे करके संस्कारों के तन्वीकरण की बात भी समझाई है, उसको इस प्रकार से समझ लेना चाहिये। जैसे किसी व्यक्ति के मन में किसी के प्रति राग बनता है तो वह व्यक्ति उस राग-काल में उस दूसरे व्यक्ति को अपने प्यार का ही प्रदर्शन करता है। राग-काल में उसके प्रति क्रोध नहीं आता, यद्यपि क्रोध भी क्लेशान्तर्गत एक वृत्ति है। किन्तु राग-काल में रागलब्ध-वृत्ति उभरती है और क्रोध विच्छिन्न या तनुत्व को प्राप्त हुआ करता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि राग करने वाले व्यक्ति के मन के अन्दर क्रोध निर्बीज हो गया है। ऐसी बात नहीं। राग-काल में क्रोध का निर्बीजत्व तो नहीं है, किन्तु उस समय राग करने वाले व्यक्ति के मन में क्रोध भी हल्केपन से बीजरूप से रहा तो करता है, किन्तु उस समय रागलब्ध-वृत्ति उदार है और क्रोध बीज

रूप से मन में स्थित तो है, किन्तु उस समय राग का प्रधानता के कारण राग उद्धार क्लेश है, अर्थात् लब्धवृत्ति है एवं क्रोधादि अन्य संस्कार या तो विच्छिन्न हो जाते हैं या उनका तन्वीकरण हो करके बहुत ही हल्केपन के साथ बीजरूप से विद्यमान रहा करते हैं।

यहाँ पर श्री व्यासदेवजी महाराज ने चेत्र नामक किसी व्यक्ति को उदाहरण में रख करके इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है। चैत्र नामक कोई व्यक्ति किसी स्त्री में अनुराग करता है तो इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि उसके अन्दर उस समय क्रोध समाप्त हो चुका है। खत्म तो नहीं हुआ किंतु जिसके प्रति राग किया जा रहा है, उसके प्रति रागलब्ध-वृत्ति उदार रूप से विद्यमान है और क्रोधादिक अन्य वृत्तियां उस समय विच्छिन्नता या तनुत्व के रूप को धारण कर चुकी है। यह राग भी उस समय उस एक व्यक्ति में लब्धवृत्ति एवं उदार है, किन्तु कालान्तर में अर्थात् भविष्यत् वृत्ति में यहाँ यह तनुत्व को प्राप्त हो जाये और किसी और दूसरे व्यक्ति में लब्धवृत्ति होकर उदारता का प्राप्त हो जाये या इधर से बिल्कुल ही विच्छिन्नता को प्राप्त हो जाये। इस प्रकार जो योगी ध्यान-प्रवाह वाले बन जाया करते हैं वे अपने संस्कारों का भुगतान बहुत ही सूक्ष्मता के साथ कर लिया करते हैं।

जो लोग चरम-देही हो जाते हैं वे तो अपने संस्कारों का दग्धबीज कर ही डालते हें किन्तु इसके अतिरिक्त जो लोग ध्यान योगी हैं और उनकी ध्यान योग की वृत्ति अन्तर्जगत में रहा करती है। अर्थात् बाहरी दुनियाँ को न देख कर प्रतिक्षण अन्तर्जगत में लीन रहा करते हैं, अर्थात् जो सम्प्रज्ञात समाधि में प्रख्या प्रवृत्ति स्थितिशील पंच-महाभूतात्मक एवं पंच-ज्ञानेन्द्रियात्मक दृश्य को अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपवर्गार्थ देखते हैं, ऐसे योगी उस समाधि काल में आने वाले उस प्रबल संस्कार को भी सूक्ष्म में भोग करके ही ही समाप्त कर दिया करते हैं।

मेरे परम गुरुदेव आनन्दकन्द योगयोगेश्वर प्रभु श्री रामलालजी के चरित्रो में कितनी ही ऐसी घटनाये वर्णित हैं जिनमें बहुत ही अवश्यम्भावी संस्कार जो शरीर में भोगरूप से आने वाले थे, वे सभी संकार साधकों के समाधिस्थ होने के कारण बिल्कुल ही सूक्ष्म रूप से निकट गये। उदाहरण के लिये— एक योगाभ्यासी साधक की आप-बीती घटना सूक्ष्म रूप में केवलमात्र सिद्धान्त को समझाने के लिये लिखी जाती है।

यह व्यक्ति जिस समय आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के चरणारविन्द में दीक्षित हुआ उससे पहले से ही कोई व्यक्ति इसके धन का अपहरण करने के लिये इसके प्रति घातक वृत्ति रखता था। उसका यह प्रबल संस्कार बन चुका था कि इस व्यक्ति को किसी भी प्रकार का प्रलोभन देकर मार दिया जाय किन्तु प्रयत्न करने पर भी वह अपनी मनोवृत्तियों को सफल नहीं बना सका था। जिस समय यह व्यक्ति योग-दीक्षा प्राप्त करके अन्तर्जगत् में प्रविष्ट हुआ और बराबर ध्यानाभ्यास करने लगा तो कुछ दिन के अभ्यास के बाद इसने ध्यान में देखा कि वह व्यक्ति आया है और उसने अपने मनवाञ्छित तरीके से उसने इसके धन का अपहरण कर लिया है और इसके शरीर में तीव्र शस्त्र झोंककर इसकी मृत्यु कर डाली है। सूक्ष्म जगत् में उसने इस दृश्य को देख लिया और भुगतान कर लिया। निबटने वाला संस्कार सूक्ष्म में निबट गया। ध्यानाभ्यास से उठने के बाद सूक्ष्म शरीर में जहाँ शस्त्र प्रहार हुआ था, वह स्थान काफी दर्दयुक्त कई रोज तक अनुभव में आता रहा, किन्तु इस संस्कार के भुगत जाने के बाद उस व्यक्ति के साथ इसका न कोई विरोध रहा और न ही प्रतिघाती व्यक्ति का कोई विरोधी धन की अपहरण की भावना से जो उस व्यक्ति का द्वेष इसके प्रति चलता था वह बिल्कुल ही ऐसे समाप्त हो गया जैसे कोई विरोधी संस्कार था ही नहीं। इसी का अर्थ है कि उसका यह प्रबल संस्कार तनुत्वेन भुगत भी गया और बाद में विच्छिन्न भी हो गया।

इस प्रकार जो ध्यानाभ्यासी लोग हैं उनके संस्कार ध्यानयोग के प्रभाव से तनु होकर विच्छिन्न हो जाया करते हैं, फिर उनका स्थूल शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वैसे आजकल लोक-प्रवाह में भी कई एक लोग स्वप्न ज्ञान की बातें कहा करते हैं, यदि स्वप्न में कोई व्यक्ति अपने आपको मरते हुए देख लेता है तो उसका फल सभी लोग बतलाया करते हैं कि बस! आयु बढ़ गई। इसका अर्थ यही है कि कोई कठिन कर्म-विपाक तो था ही किन्तु वह अन्तर्जगत में ही निबट गया। इस लिये योगाभ्यासी साधकों को चाहिये कि वे लोग प्रकाश-क्रिया स्थितिशील, पंचमहाभूतात्मक एवं पंच-ज्ञानेन्द्रियात्मक इस दृश्य का अपवर्गार्थ दर्शन करें। जो लोग अन्तर्जगत के दृष्टा बन करके सम्प्रज्ञात समाधि में प्रवेश कर जायेंगे, उनके उदार संस्कार भी लब्धवृत्ति न हो करके तनु एवं विच्छिन्नता का रूप अवश्य ही धारण कर लेंगे। ऐसी स्थिति में साधक अनेक प्रकार की लौकिक व्याधाओं से बिल्कुल-बिल्कुल निकल जायेगा और यही अन्तर्जगत के दृश्य उस साधक को उत्तरोत्तर योगारूढ़ करते चले जायेंगे। यह एक स्वाभाविक नियम की बात है।

जब कोई योगी योगाभ्यास करता है तो उसके अन्तरात्मा में छुपे रहने वाले वह परम गुरु जो कालगति से सदा ही परे हैं, उसको अन्तःप्रेरणा देते रहेंगे और साधक यह भली प्रकार से समझता रहेगा कि उसके बाद यह भूमिका है और उसके बाद यह दूसरी अन्तःभूमि है। इस प्रकार अभ्यास करता हुआ साधक अपने कर्म-विपाक को दृश्य-जन्म-संवेदनीय संस्कारों के साथ बिल्कुल निर्मल बना करके वासनाओं का क्षय भी एक डालेगा जिसके फलस्वरूप जन्म-मरण के चक्र से वह बिल्कुल बच जाने का अवसर पा लेगा।

स्मृत्युपस्थान

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग के आचार्य भगवान पतञ्जलिदेव ने योगदर्शन के प्रारम्भ में ही—

प्रमाणविपर्यय-विकल्पनिद्रास्मृतयः।

कहकर चित्त की वृत्तियों का वर्णन किया है, और इनमें से स्मृति नाम की पांचवीं वृत्ति को समझाने के लिये—

अनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृतिः।

कहकर स्मृति का लक्षण भी लिख दिया है। इस सूत्र का अर्थ है किसी भी समय अनुभव किये हुए, देखे हुए या सुने हुए विषयों का मन से न चुराया जाना।

अर्थात् कभी भी किसी काल में हमने किसी से कोई बात सुन ली, आँखों से कोई बात देख ली, नासिका से गन्ध ग्रहण कर ली या जिह्वा से किसी वस्तु का रस ग्रहण कर लिया, अथवा त्वचा के द्वारा किसी स्पर्श का अनुभव कर लिया तो इन सभी का ज्यों का त्यों मन में कायम रहना 'स्मृति' कहलाती है।

इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव जी का भाष्य इस प्रकार से पढ़िये—

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति, आहोस्वित् विषयस्येति। ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासः तज्जातीयकं संस्कारमारभते स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृति जनयति। तत्र ग्रहणाकापूर्वा बुद्धिः, ग्राहाकारपूर्वा स्मृतिः। सा च द्वयी भावितस्मर्त्तव्या चा-भावितस्मर्त्तव्या च। स्वप्ने भावितस्मर्त्तव्या जाग्रत्समये त्वभाविपस्मर्त्तव्येति।

सर्वाः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्प निद्रास्मृती-नामनुभवात् प्रमवन्ति। सर्वाश्चैव वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः। सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः। सुखानुशयीराग। दुःखानुशयी द्वेषः। मोहः पुनरविद्येति एताः सर्वाः वृत्तयो निरोद्धव्याः। आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति असंप्रज्ञातो वेति।।11।।

अर्थात् चित्त जब प्रथम बार स्मरण करता है तो क्या वह विषय के ज्ञान का स्मरण करता है या लक्ष्यीभूत अर्थ को स्मरण करता है? यह प्रश्न है। इसके उत्तर को समझाते हुए भगवान् व्यासदेव स्पष्ट करते हैं कि लक्षीभूत ग्राह्य विषय में लगा हुआ ज्ञान ग्राह्य और ग्रहण दोनों प्रकार का भासित होता है तथा उसी प्रकार के संस्कारों को आरम्भ करता है और वे संस्कार अपने आपको प्रकट करने के कारण भूत ग्राह्य एवं ग्रहण दोनों के आकार वाली स्मृति को पैदा करते हैं। उनमें से ग्रहणाकार को प्रथम धारण करने वाली बुद्धि होती है और ग्राह्य के आकार को धारण करने वाली प्रथम स्मृति होती है और वह स्मृति भी भावित और अभावित दो प्रकार की होती है वह स्मृति स्वप्नावस्था में भावित आकार वाली होती है और जाग्रतावस्था में विषय को प्रत्यक्ष ग्रहण करने के कारण अभावित स्मृति कहलाती है। ये सारी की सारी स्मृतियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, इन्हीं के अनुभव से प्रभावित होकर बनती हैं, इन्हीं का नाम वृत्तियाँ हैं। ये सभी की सभी वृत्तियाँ सुख-दुःख और मोह का सृजन करने वाली होती हैं। सुख-दुःख आदि को पांच क्लेशों के अन्तर्गत स्पष्टीकरण के साथ समझाया जायेगा। सुख का अनुसरण करने वाली वृत्ति को राग कहते हैं और दुःख का अनुसरण करने वाली वृत्ति को द्वेष कहते हैं। मोह नाम अविद्या का है। ये सभी की सभी वृत्तियाँ निरोधव्या हैं। इन वृत्तियों का निरोध सम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा कैसे होगा? यह दूसरे विषय की बात है। आज के इस प्रकरण के अन्तर्गत हमें केवलमात्र एक ही बात समझनी है कि स्मृति क्या वस्तु है और स्मृत्युपस्थान कैसे हो सकता है?

हमारे प्राचीन इतिहास में स्मृत्युपस्थान के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। योग-दर्शन के अन्दर ही जहाँ पर भगवान पतञ्जलिदेव जी ने विभूति पाद में—

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजाति ज्ञानम्।।18।।

अर्थात् संस्कारों के साक्षात्कार करने से मनुष्य को अपनी पूर्व जातिका ज्ञान हो जाया करता है। यह तो बात हुई संयम से सम्बन्ध रखने वाली। साधक अपने संयम के आधार पर यदि स्मृति क्लेश आदि-इनमें संयम करता है तो पहले उसके जन्म कहाँ हुए, कैसे हुए, इसे संयम के आधार पर जान लिया करता है। इस प्रकार संयम करके पूर्व जातियों का ज्ञान प्राप्त करना यह भी स्मृति-ज्ञान ही है। यही संयम का विषय इतना आगे बढ़ जाता है कि योग बल से जन्म-जन्मान्तर की स्मृतियों का ज्ञान योगी को होने लगता है, यह भी एक प्रकार का स्मृत्युपस्थान है। संयम सिद्ध हो जाने पर योगी को संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी सूत्र के व्याख्यान में भगवान व्यासदेव जी ने जहाँ संस्कारों का निरूपण

किया है और उनके साक्षात्कार करने की विधि का व्याख्यान किया है, वहाँ बहुत बड़े स्मृत्युपस्थान को समझा देने वाला महामुनि जैगीषव्य और आटव्य का एक उदाहरण दिया है। योगी का कितना बड़ा स्मृत्युपस्थान होता है, इसका पूर्ण रूपेण स्पष्टीकरण किया गया है। हम ज्यों का त्यों उस उदाहरण के कथानक को यहाँ पर सर्व साधारण के हितार्थ लिखते हैं—

अत्रेदमाख्यान श्रूयते— भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कार-साक्षात्करणादृशसु महासर्गेषु जन्मपरिणाम क्रममनुपश्यतो, विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभूत्। अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच- दशसु महा सर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वैन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसंभवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुख-दुःखयो किमधिकमुपलब्धमिति। भगवन्तमायट्यं जेगीषव्य उवाच— दशसु महासर्गेषु भव्यत्वा-दनभिभूतबुद्धिसत्त्वैन मया नरकतिर्यग्गर्भसभवं दुखं सपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुपद्यमानेन यत् किंश्चिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यमैमि।

भगवानावह्य उवाच— यदिदमायुष्मतः प्रधानव-शित्व-मनुत्तमं च संतोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निःक्षिप्तमिति। भगवान् जैगीषव्य उवाच— विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं संतोष-सुखमुक्तम्, कैवल्यासुखापेक्षयां दुःखमेव। बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणः त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षेन्यस्त इति। दुःखस्वरूप-स्तृष्णातन्तुः। तृष्णादुःखसन्तापपगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति।।18।।

कथानक इस प्रकार है— प्राचीन काल में जैगीषव्य मुनि को संस्कारों के साक्षात्कार करने से १० महासर्गों के अन्दर होने वाले जन्म परिणाम को देखकर विवेक ज्ञान पैदा हुआ था। उनकी इस संस्कार-साक्षात्कार करने की योग्यता को देख करके भगवान आटव्य (जो उनके गुरुदेव थे) उन्होंने प्रगट हो करके महामुनि जगीषव्य से पूछा कि- दस महासर्गों के अन्दर जन्म लेते हुए परम बुद्धिसत्त्व को धारण करते हुए तुमने नरक एवं पशु-पक्षी गर्भ सम्भव किस-किस प्रकार के दुःखों का अनुभः किया और इसके अतिरिक्त देव और मनुष्य योनियों में बार-बार पैदा होते हुए सुख और दुःख दोनों के जोड़ों में से क्या अधिक प्राप्त किया?

महामुनि आटव्य के इस प्रकार पूछने पर मुनि जैगीषव्य ने उत्तर दिया कि मैंने दस महासर्गों के अन्दर विलक्षण बुद्धि-सत्त्व को धारण करते हुए नरक और तिर्यक योनियों के अन्दर होने वाले घोर दुःखों को तो देखा ही, किन्तु देव और मनुष्यों में भी बार-बार जन्म लेने पर जो कुछ अनुभव किया है, उसको भी मैं केवलमात्र दुःख ही समझता हूँ। मुनि के ऐसा कहने पर भगवान आटव्यच ने कहा कि अरे! बेटा जैगीषव्य! तुमने प्रधान जय आदि उत्तम स्थिति को पाकर जो संतोष सुख प्राप्त किया था। क्या वह भी दुःख पक्ष में ही लगा दिया है? अपने गुरुदेव की ऐसी वाणी सुन करके महामुनि जैगीषव्य ने कहा कि हे प्रभो! विषय सुख की अपेक्षा सन्तोष सुख उत्तम है, यह बात तो ठीक ही है, किन्तु कैवल्य लाभ की अपेक्षा यह सन्तोष सुख भी एवं प्रधानवशित्व आदि भी दुःख ही है, क्योंकि विलक्षण बुद्धि सत्त्व त्रिगुणात्मक ही है और त्रिगुणात्मक वस्तु त्रिगुण-जनित होने के कारण त्यागने ही योग्य है। क्योंकि तृष्णा तन्तु ही दुःख का स्वरूप है। यदि मनुष्य किसी भी प्रकार से तृष्णा संतोष हटा लेता है तो फिर उसका वह सुख अवाद्य सुख है अर्थात् वह सुख अन्तराय रहित सुख है। ऐसे सुख को प्राप्त करके मनुष्य फिर कभी भी आवागमन के चक्र में नहीं पड़ता। प्रत्युत अजरत्व और अमरत्व को प्राप्त हुआ दुःखों के अत्यन्त विमोक्ष को पाकर निर्विकल्प एवं निर्बीज समाधि में समाधिस्थ रहा करता है, वह इस प्रकार के दुःखद्वन्द्वों को छोड़ करके शुद्ध आत्म स्वरूप बन जाया करता है। इस लेख के अनुसार भगवान आटव्य एवं जैगीषव्य मुनि का यह आख्यान इस बात का बहुत बड़ा परिचायक है कि जैगीषव्य मुनि को कितना ऊँचा स्मृत्युपस्थान था। इस लेख में स्मृति का लक्षण भगवान पतञ्जलिदेव के शब्दों में पहले लिख आये हैं यथा-

अनुभूत विषया सन्प्रमोक्षः स्मृति

अर्थात् किसी भी प्रकार से पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा लाखों, करोड़ों जन्मों के अन्दर होने वाले अनुभव ज्ञान का मन में कायम रहना स्मृति कहलाती है। इस ही प्रकार का एक बहुत बड़ा उदाहरण श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान आनन्दकन्द अखिलात्मा श्रीकृष्णचन्द्र जी के वाक्यों से ज्ञात होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय के अन्त में कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरि-
न्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो-
बुद्धेः परतस्तु सः।।
एवं बुद्धे परं बुद्ध्वा,
संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो,
कामरूपं दुरासदम्।।

—गीता ३/४२-४३

अर्थात् योगी पहले अपनी इन्द्रियों को साक्षात्कार करता है और इन्द्रियों के साक्षात्कार करने के बाद मन का साक्षात्कार करता है। मन के बाद बुद्धि का साक्षात्कार करता है और बुद्धि के बाद प्रधान साक्षात्कार के साथ आत्म साक्षात्कार करता है। इस प्रकार से योग के कोर्स का अध्ययन करते हुए बुद्धि से आगे परम शुद्ध आत्म-तत्व को पहचान कर हे अर्जुन! तुम कामरूप दुराभुभ शत्रु को मारो। अर्जुन को यह उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय के अन्त में भगवान ने देकर अर्जुन को समझाया और यह समझाने के बाद चौथे अध्याय के आरम्भ में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दुबारा उपदेश दिया कि हे अर्जुन—

इमं विवस्वते योगं
प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह
मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
एवं परम्पराप्राप्त-
मिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता,
योगो नष्टः परंतप।।
स एवायं मया तेऽद्य,
योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति,
रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।

— गीता ४/१-२-३

अर्थात् हे अर्जुन! मैंने यह योग पहले विवस्वान को कहा था और विवस्वान ने मनु को कहा और मनु ने इक्ष्वाक को कहा। दस प्रकार से हमारा यह योगोपदेश परम्परा से चलता हुआ राजर्षि लोग जानते रहे। अब यह बात क्योंकि बहुत पुरानी हो गई है, इसलिये लम्बा समय हो जाने के कारण यह योगीपदेश प्रायः नष्ट-भ्रष्ट सा हो गया है। इसलिये उसकी पुनः स्मृति दिलाने के लिए यह वही पुरातन योग आज मैंने तुमसे कहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त और परम प्रिय सखा हो। इसी कारण से यह उत्तम रहस्य की बात मैंने तुम्हें समझायी है। भगवान श्रीकृष्ण के इन शब्दों को सुनकर अर्जुन के मन में बहुत बड़ा सन्देह पैदा हुआ और उसने भगवान से प्रार्थना पूर्वक प्रश्न किया—

अपरं भवतो जन्म,
रं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां,
त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।

— गीता ४/४

अर्थात् हे भगवान! आपका जन्म तो अब हो रहा है और विवस्वान का जन्म बहुत ही पहले हुआ था। मैं इस बात को कैसे समझूँ कि आप ही ने यह योग विवस्वान को बताया था। कृपा करके यह रहस्य मुझे समझाइये कि आप अब हैं और विवस्वान बहुत ही पहले थे, आपने विवस्वान आदिकों को कैसे यह योगोपदेश दिया?

इसका उत्तर देते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन! सुनो—

बहूनि मे व्यतीतानि,
जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न
त्वं वेत्थ परंतप।।
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा,
भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय,
संभवाम्यात्ममायया।।
यदा-यदा हि धर्मस्य,
ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य,
तदात्मानं सृजाभ्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां,
विनाशाय च दुष्कृताम्।।
धर्मसंस्थापनार्थाय,
संभवामि युगे-युगे।।

— गीता ४/५-६-७-८

अर्थात् हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म व्यतीत हो गये हैं। उन सबको तुम नहीं जानते हो, किन्तु मैं सभी जन्मों को जानता हूँ। यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, परात्पर अव्यय आत्मा हूँ और प्राणी मात्र का ईश्वर हूँ फिर भी जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और साधुओं का तिरस्कार होता है, तब-तब धर्म के अभ्युत्थान के लिये एवं साधुओं के परित्राण के लिये अपनी प्रकृति का अवलम्ब लेकर अपनी योग-माया को धारण करके युग-युग में जन्म लिया करता हूँ, ताकि संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों का मेरे द्वारा भला बन जाये। भगवान श्रीकृष्ण के स्मृत्युपस्थान का यह बहुत बड़ा प्रमाण है और उन्होंने अपनी वाणी से इसको स्वीकार किया है कि- हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं, किन्तु उन सब जन्मों को मैं जानता हूँ और तुम नहीं जानते। यह श्रीकृष्ण की स्मृत्युपस्थान की बात ही है। हमने पहले कई बार अपने भाषणों और लेखों में यह बात समझाई है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव ये सबके सब आदि योगी हैं और ज्ञान गति से अनादि काल से ही यह सिद्ध हैं। इन सबके अन्दर सर्वज्ञ बीज की पराकाष्ठा है। अतः इन सभी के लिये स्मृत्युस्थान के विषय में कुछ कहना कोई जर्थ नहीं रखता। जो स्मृति के केन्द्र हैं उनके लिये स्मृत्युपस्थान की बात हो ही क्या सकती है? स्मृत्युपस्थान तो सांसारिक प्राणियों के लिये आवश्यक साधना है। क्योंकि आज कलिकाल के समय में स्मृत्युपस्थान का भारी सा अभाव होता जा रहा है। हमारे प्राचीन इतिहास में स्मृत्युपस्थान की आधार भित्ति ब्रह्मचर्य आश्रम था। हमारे ऋषि-मुनियों ने अपनी सभी संतानों के हित-साधन के लिये चतुर्विध आश्रमों की स्थापना की थी, जिनमें से सर्व प्रथम— ब्रह्मचर्य आश्रम, दूसरा गृहस्थ आश्रम, तीसरा वानप्रस्थ आश्रम और चौथा संन्यास आश्रम कहलाता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने वाला एक ब्रह्मचारी जंगलों में रहकर वेदाध्ययन करता था

एवं वासनिक सम्पर्क से उसको सदा सर्वदा के लिये दूर रखा जाता है। साग, पात, कन्दमूल आदि का भोजन करता है। गौ के पवित्र दुग्ध का पान करता है। विद्युल्लता आदि स्मृति संबर्धक दिव्य औषधियों का सेवन करता है एवं दृढ़ता के साथ शरीर में वीर्य का संवर्धन करते हुए उसकी रक्षा भी करता है तो उत्तरोत्तर उसकी स्मृति बढ़ती चली जाती है। हमने इस योगप्रचार के कार्यक्रमों के अन्दर इस प्रकार के ब्रह्मचारी देखे हैं जिनके सामने योग-सिद्धान्तों को व्याख्यान के रूप में श्रुति, स्मृति के एवं पुराण, इतिहास और औपनिषदिक सिद्धान्तों को समझाया गया तो उनका इतना ऊँचा स्मृत्युपस्थान पाया गया कि सुनने मात्र से उनको प्रमाण और प्रामाणिक विषय याद हो आ जाते थे। इसी प्रकार से जिन ब्रह्मचारियों को ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्युल्लता आदि का सेवन कराया जाता है पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कराया जाता है, उनका भी उत्तरोत्तर स्मृत्युपस्थान बढ़ता चला जाया करता है। इसके साथ ही जिन ब्रह्मचारियों को प्राणायाम आदि कराया जाता है उनकी इन्द्रियों के मल जल जाते हैं और स्मृति बढ़ती चली जाती है। शनैः-शनैः अभ्यास करते हुए वे लोग योग की पराकाष्ठा को पहुँच जाया करते हैं। किन्तु आजकल इस घोर कलिकाल के युग में स्मृत्युपस्थान की अपेक्षा मनुष्यों को पतन की ओर ले जाने वाली साधनायें सामने आती जा रही हैं। पहले समय के अन्दर स्मृत्युपस्थान के साधनों को बार-बार जुटाया जाता था, जिसके फलस्वरूप ब्रह्मचारी लोग सूर्य के समान दैदीप्यमान होकर संसार के सामने आया करते थे। किन्तु आज जिन लोगों के मनों पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव है वे तो हासविलास एवं वासना-भोग को सहज एवं स्वाभाविक मानकर उनमें प्रवाहित रहते ही हैं। इससे भी अधिक दुःख यह है कि आज वे तथा कथित महात्मा लोग भभ बहुधा इन्हीं पश्चिमी विचारों में अपने आपको प्रभावित करके लोगों के मनोनुकूल ही उपदेश करने लग गये हैं। योग के प्रचारक साधु लोग कहते हैं कि मन जहाँ जाये उसको जाने देना चाहिये, किसी भी वासना-भोग में पड़ना चाहे तो उसे पड़ने ही देना चाहिये। क्योंकि मन इस प्रकार से वासना-प्रवाह में इधर-उधर भटक कर और थक कर अपने आप ही रुक जायेगा। उपदेश बातें बहुत ही गलत हैं। इस प्रकार भोग-भोगते हुए मनुष्य अपनी कामनाओं को शान्त करलें, यह बिल्कुल ही असम्भव बात है। कामनाओं का उपभोग करता हुआ व्यक्ति कभी भी कामनाओं को शान्त नहीं कर सकता। प्रत्युत् आग में घी डालने पर जिस प्रकार से आग भड़क जाया करती है उसी प्रकार से मनुष्य जितना-जितना भोगों को भोगता रहता है, उतना-उतना ही उसकी स्मृति का नाश होता रहता है और अन्त में इसी प्रकार कालयापन करके अपनी अमूल्य जीवन-विधि को समाप्त कर लेता है। भगवान श्रीकृष्ण इन सभी आधुनिक वासनाजनक साधुओं को स्मृति नाश का कारण स्वयं अपने मुखारविन्द से गीता के दूसरे अध्याय में बतलाया है। वे कहते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः
सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः,
कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति संमोहः
संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृभ्रिंशाद्बुद्धिनाशो,
बुद्धिनाशात्प्रणाश्यति।।

—गीता २/६२/६३

अर्थात् ज्यों-ज्यों मनुष्य विषयों का ध्यान करता है, त्यों-त्यों उसके मन में वासना बढ़ जाती है और धीरे-धीरे संगदोष पैदा हो जाता है और संगदोष बढ़ जाने पर मन में कामना बढ़ जाता है। कामना बढ़ जाने पर मनुष्य अपनी मनचाही वस्तुओं प्राप्त करने की इच्छा करता है और जब वह वस्तु उसको नहीं मिलती या तब उसका कामाभिघात हो जाता है। कामाभिघात हो जाने पर उसको क्रोध पैदा होता है और जब क्रोध करने पर भी कोई सफलता नहीं मिलती तो समोह की स्थिति बढ़ जाती है। अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वह पागल जैसा हो जाया करता है। ऐसा उन्माद स्थिति में आ जाने पर उसको स्मृतिभ्रंश हो जाया करता है और स्मृतिभ्रंश हो जाने पर बुद्धिनाश हो जाता है और बुद्धिनाश हो जाने पर अन्तिम उपाधि केवलमात्र उसके लिये प्रणष्यति का ही शेष रह जाती है। यह तो वह बात हुई कि—

भोगा ने भुक्ता, वयमेव भुक्ताः।

अर्थात् भोग तो नहीं भोगे गये, किन्तु भोगों ने हमें ही भोग डाला। इसलिये आजकल व योग-प्रचारकों का यह मत केवलमात्र स्मृतिनाश का साधना का ही एक साधन है। वस्तुतः तो—

आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रतिशन्ति सर्वे,
स शांतिमाप्नोति न कामकामी।।

मनुष्य जन्म एवं मनुष्य का कर्त्तव्य

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

संसार में उपदेशक, साधु, सन्त और महात्मा प्राय: कहते रहते हैं कि— ''**दुर्लभो मानुषो जन्म:**'' अर्थात् 'मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है।' प्रयत्न करने पर भी मनुष्य जन्म नहीं मिल पाता। इसका एकमात्र कारण यही है कि अन्तिम समय में मनुष्य शुभ स्मरण नहीं कर पाता। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

यं-यं वापि स्मरण भावं
त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्येतय
सदा तद्भावभावित:।।

अर्थात् अन्तिम समय में जिस समय मनुष्य के प्राण पखेरू उड़ने लगते हैं उस समय मनुष्य के मन में जैसी-जैसी स्मृति कायम रहती है वैसा-वैसा उसको स्मरण के भावानुरूप भावी जन्म का ज्ञान हुआ करता है। भावी जन्म की सूचना सूचक चिह्न मनुष्य के मृत्युकाल में अवश्य ही प्रकट हो जाया करते हैं। यदि शरीर छोड़कर जाने वाले प्राणी का कोई शुभ उदय होने वाला होता है तो उसकी मृत्यु के समय वाणी बहुत ही पवित्र और मीठी हो जाया करती है। राग-द्वेष मन से निकल जाया करते हैं। वह प्राणिमात्र से स्वाभाविक प्रेम करने लगता है। हर एक के प्रति उसके मन में हित की भावनायें भर जाया करती हैं। वह शुभ्र वस्त्र अपने आप धारणकर लेता है। अपने आप वेद-मन्त्रों का उच्चारण करने लगता है। गीता, रामायण, उपनिषद एवं वेद आदि सब शास्त्रों का पाठ करता एवं कराया करता है। जिस प्राणी को मृत्युकाल में इस प्रकार के लक्षण बिना किसी प्रयास के अपने आप होने लगें तो समझ लेना चाहिये कि देहावसान के बाद यह प्राणी किसी उत्तम गति को जाने वाला है और इसी प्रकार मृत्युकाल में जिसके मन में इनके प्रतिकूल भावनायें आती हों, स्वभाव चिढ़चिढ़ा हो जाता हो, हर एक व्यक्ति के प्रति द्रोह की भावना पैदा हो जाती हो, मुख से भयानक चीत्कार का बुरा घोष निकलता हो, रोता हो, चिल्लाता हो, भय खाता हो एवं गीदड़, कुत्ते शियार आदि की वाणियां मुख से अनायास निकलने लगती हों तो समझ लेना चाहिये कि यह प्राणी शुभ-गति प्राप्त करने वाला नहीं है।

उपरोक्त दोनों प्रकार के यह लक्षण सद्गति और अपगति की सूचना देने वाले होते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त हमारे आचार्यों का यह भी मत है कि जिस समय किसी व्यक्ति की साधारण मृत्यु होने लगती है तो उसको एक हजार बिच्छु के काटने पर जो दु:ख हुआ करता है वैसा दु:ख होता ही है। इसके अतिरिक्त यदि किसी की घोरतम पापकर्म के फलस्वरूप मृत्यु होती है तो उसको एक साथ दस हजार बिच्छु के काटने पर जो दु:ख होना चाहिये वैसा दु:ख होता है। और ऐसा व्यक्ति कितने ही दिनों तक बराबर तड़पता रहता है। उसके प्राण सहजतया निकल ही नहीं पाते। यद्यपि ऐसे घोर दु:ख काल में सभी इष्ट मित्र एवं सम्बन्धी यह भी हृदय से चाहने लगते हैं कि जल्दी से जल्दी इसके प्राण निकल जायं ताकि इसे यह घोर यातना न भोगना पड़े। किन्तु सभी के चाहने पर भी ऐसा हो नहीं पाता। जितने उसके पाप-कर्म होते हैं उतना ही घोरतम् क्लिष्ट भुगतान हो जाने के बाद उसकी मृत्यु हो पाती है। ऐसे घोरतम् दु:खकाल में उसे कोई शुभ चिन्तन बनेगा इसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। परिणाम स्वरूप अपने महाघोर क्लिष्टतम् कर्म-विपाक को भोग लेने पर भी उसका शरीर विछोह हो पाता है। इतनी कठिन स्थिति का भोग-भोगते हुए उसकी सद्गति की भावना तो की ही नहीं जा सकती।

देही के प्राण त्याग के समय उसके सम्पर्क के कुटुम्बी लोग यह बार-बार चेष्टा किया करते हैं कि अन्तिम समय में किसी भी प्रकार से उसको शुभ चिन्तन बन आये और वह व्यक्ति सद्गति-भाजन हो जाय, इसी कारण से उसके कानों में बार-बार कुटुम्बीजन कहते हैं कि ''राम-राम कहो।'' मुख में गंगाजल भी डालते हैं किन्तु उन सबके बार-बार कहने पर भी जो घोर दु:ख वह भोग रहा होता हे उसके कारण उसका शुभ चिन्तन बन ही नहीं पाता। प्रत्युत् शुभ चिन्तन का नाम लेने वाले भी उस समय उसको बुरे लगते हैं। इसलिये उपरोक्त 'यं यं वापि स्मरन्भावं के सिद्धान्तानुसार वह मरणासन्न प्राणी की अपगति ही हो जाती है और आगे भी ऐसे व्यक्ति को बार-बार मनुष्य जन्म नहीं मिलता।

''योग-दर्शन' में भगवान पतञ्जलिदेव अपने मुखारविन्द से कहते हैं कि—

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।।8।।

व्यासदेव जी का सूत्र इस प्रकार है—

तत इति त्रिविधात्कर्मण:, तद्विपाकानुगुणानामेवेति यज्-जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासना, कर्म-विपाकमनुशेरते तासामेवाधिव्यक्ति: न हि दैवं कर्म विपच्यमानं-नारकतिर्यङ् मनुष्यवासनाऽभिव्यक्तिनिमित्तं संभवति, किन्तु

दैवानुगुणां एवास्य वासना व्यज्यन्ते, नारकतिर्यङ् मनुष्येषु चैवं समानश्चर्यः।।8।।

अर्थात् कर्म जाति तीन प्रकार की होती है— पुण्य के कर्म, पाप के कर्म और पाप और पुण्य के मिले-जुले कर्म। इस प्रकार त्रिविध कर्म की जाति के अनुसार उस समय अन्तिम समय में जैसा कर्म-विपाक होता है, अर्थात् उस समय जैसे सुख-दु:ख रूप कर्म को मनुष्य भोग लेता है, वह उसके अच्छे-बुरे कर्मों का फल होता है। और यह सभी जानते हैं कि फल के अन्दर बीज रहा करता है। यदि मनुष्य आम का फल खाता है तो उसके अंदर गुठली रूप आम का बीज रहा करता है। उस गुठली को यदि खेत में बो दिया जाय तो उससे पौधा पैदा हो करके कुछ ही समय के बाद वह वृक्ष बन जाया करता है और फिर उसमें उस ही प्रकार के फल लगने आरम्भ हो जाते हैं। यही सिद्धान्त कर्म-जाति पर भी लागू है। अन्तिम समय में मनुष्य जिस-जिस प्रकार के कर्म-फल को भोग रहा होता है उसके अन्दर वैसी ही कर्मवासना रूप बीज रहा करता है, उसी को वासना कहते हैं। यह कर्म-वासना ही पुनर्जन्म की दात्री होती है। इसीलिये मनुष्य अन्तिम समय में सुख का दु:ख का उपभोग करता रहता है। मनुष्य जन्म की दुर्लभता हमारे सभी शास्त्रों में इसी कारण गायी है, क्योंकि अन्तिम समय में लाखों करोड़ों मनुष्यों में कोई एक-दो ही ऐसे होते हैं जिनको अन्तिम समय में शुभ स्मरण बनता हो। अन्यथा दु:खोपभोग करते हुए ही प्राय: सभी देह का त्याग करते हैं और इसका परिणाम यह निकलता है कि अन्तिम समय की भावनानुसार प्राय: तिर्यक योनियों यानी पशु-पक्षी आदि की योनियों को पा जाते हैं। आगे एक बार जिस प्रकार का भुगतान शुरू हो जाता है, वैसे-वैसे ही प्राय: उसका जन्म होता रहता है। क्योंकि पशु-पक्षी आदि की जो योनियाँ होती हैं, उनमें प्राणी कोई शुभाशुभ कर्म तो कर ही नहीं सकता। जिस योनि में से वह वर्तमान में निकल रहा है, अन्तिम समय में उसका कर्म-विपाक भी वैसा ही बन जाता है। अत: वह वह वर्तमान योनि से छूट जाने के बाद दुबारा फिर उसे वैसी ही योनि में जन्म लेना पड़ेगा। इस प्रकार से बार-बार यही चक्र चलता चला जाता है। लाखों बार यही चक्र चलता चला जाता है। लाखों बार इसी प्रकार जन्म और मरण होने के बाद किसी पुण्य के अवशेष रहने के कारण फिर मनुष्य जन्म उसे मिल पाता है और मनुष्य जन्म पा करके वह फिर कोई शुभ कर्म करेगा इसकी आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि वह निम्न जातियों से, निम्न गतियों से निकलकर आया है। किसी पुण्य के अवशेष रहने से मनुष्य जन्म तो उसने पा लिया, किन्तु तिर्यक योनियों से निकल आने के कारण तप, स्वाध्याय आदि की प्रवृत्ति बनना असम्भव सी बात है। बस, केवलमात्र जो जन्म उसने ले लिया है, उस ही का उपभोग कठिनता से कर पाता है और फिर वही मृत्यु-काल उपस्थित हो जाता है। तदनन्तर मृत्यु-काल के समय जो कर्मभोग अब तक किये हैं फिर उनके अनुरूप ही कर्म-वासना बनेगी। यह कर्म-वासना ही जन्म की दात्री होती है। अत: अपने अनुरूप ही वह जन्म देगी।

यही कारण है कि हमारे सभी धर्मशास्त्रों में मनुष्य जन्म की दुर्लभता का उल्लेख बार-बार किया गया है। अत: मनुष्य जन्म पा लेने के बाद हर व्यक्ति को सावधान हो जाना चाहिये और यह सोच लेना चाहिये कि यह उत्तमोत्तम मनुष्य जन्म फिर से नहीं मिल पायेगा। नीतिशास्त्र का भी वचन है—

यावत्स्वस्थमिदं देहं,
यावन्मृत्युश्चदूरत:।
तावदात्महितं कुर्यात्,
मर्णान्ते किं करिष्यति।।

अर्थात् मनुष्य को अपने जीवन-काल में ही अपने हित-साधन का पूरा-पूरा उपाय कर लेना चाहिये। कदाचित मनुष्य शरीर छूट गया तो बार-बार इसका मिलना संभव नहीं है, जैसा कि इस की ऊपर की पंक्तियों में भली प्रकार स्पष्टीकरण के साथ समझा दिया गया है। इसीलिये जब तक यह शरीर स्वस्थ है और मौत की घड़ियाँ दूर हैं तब तक मनुष्य को उत्तम भावी जन्म पाने के लिये यथा-साध्य प्रयत्न कर लेना चाहिये, क्योंकि वह गर्भावस्था में बार-बार यह प्रतिज्ञा करता हुआ आया है—

यदि योन्या प्रमुच्येहं,
तत्प्रपद्ये नारायणम्।
अशुभक्षय कर्तारं,
फलं मुक्ति प्रदायकम्।।
यदि योन्या प्रमुच्येहं,
तत्प्रपद्ये महेश्वरम्।
अशुभक्षय कर्तारं,
फलं मुक्ति प्रदायकम्।।
यदि योन्या प्रमुच्येहं,
अष्टाम् योगमभ्यसे।
अशुभक्षयं कर्तार,
फलं मुक्ति प्रदायकम्।।

अर्थात् गर्भावस्था में जन्म ग्रहण करने की इच्छा वाले जीव को जब दिव्य-दृष्टि मिलती है, तब उसको बड़ा भारी पश्चात्ताप होता है और वह गर्भकाल में बड़ी-बड़ी कठिन प्रतिज्ञा करता है। उसके बाद ज्योंही उसका जन्म हो जाता है तो वह भगवान विष्णु की त्रिगुणात्मक माया से स्पर्श किय हुआ पूर्वोक्त प्रतिज्ञाओं को भूल जाता है। बालकपन की क्रीड़ाओं में लग जाता है। शनै: शनै युवा हो जाता है। विवाह शादियाँ हो जाती हैं और वह भोग वासना में पड़ जाया करता है। धीरे-धीरे सांसारिक बन्धनों में पूर्णरूप से बँध जाता है एवं धीरे-धीरे भोग-भोगते हुए बुढ़ापा आ जाता है। शरीर क्षीण हो जाता है। बुद्धि काम नहीं करती और यह मनुष्य जन्म बेकार निकल जाता है। अन्तिम समय में फिर वही कठिन

कर्म-विपाक उपस्थित हो जाता है जिसके फलस्वरूप यह मनुष्य जीवन हाथ से जाता रहता है।

महाराज श्री भर्तहरिजी ने अपने 'वैराग्य शतक' में मनुष्य-जीवन की व्यर्थ यातना का एक बहुत अच्छा चित्रण किया है। मैं समझता हूँ कि श्री भर्तहरि जी के कथनानुसार ही मनुष्य का काल-यापन होता रहता है। श्री भर्तहरि जी का कथन है—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः
संक्षीयते जीवितं।
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः
कालो न विज्ञायते।।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं
त्रासश्च नोप्तद्यते।
वीत्वा मोहमयीं प्रमाद-
मदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।।

अर्थात् नित्य सूर्य उदय होता है एवं सायंकाल को अस्त को अस्त हो जाया करता है। इस प्रकार मनुष्य की आयु का एक-एक दिन, दिन प्रतिदिन क्षीण होता रहता है। और धन्धे इतने ज्यादा हैं कि यह सब करते हुए समय का ज्ञान नहीं हो पाता कि कब कितना समय निकल गया। बल्कि कलकत्ता, बम्बई आदि बड़े-बड़े शहरों में तो भूगर्भ में अर्थात् नीचे के तहखानों में काम होते रहते हैं सब कार्य बिजली के प्रकाश में किये जाते हैं। अतः यहाँ सूर्य के उदय एवं अस्त का ज्ञान केवलमात्र घड़ी को देखते से ही जाना जा सकता है कि अब सूर्य उदय हुआ है या सूर्य अस्त हो गया है। रात-दिन किसी के जन्म लेने का समाचार मिलता है, किसी की मृत्यु का समाचार मिलता है। अनेक प्रकार की विपत्तियाँ सुनने में आती हैं। जराक्रान्त बूढ़े आँखों के सामने से निकलते हैं, हजारों दुःखों से पीड़ित रहते हैं किन्तु यह सब देखकर भी मनुष्य के मन में किसी भी प्रकार का त्रास एवं भय नहीं पैदा होता। मालूम पड़ता है कि मोहमयी प्रसाद मदिरा को पीकर यह सारा संसार पागल हो गया है। श्री भर्तहरि जी महाराज ने अपने ऊपर कथित श्लोक के द्वारा मनुष्य मात्र के जीवन का पूरा चित्रण कर दिया है। विचार करके देखा जाय कि मनुष्य जीवन जितनी ताकतों को लेकर आया था, जितना-जितना मन में उल्लास था वह सब देखते ही देखते विलीन हो गया। अपने इस जीवन में प्राणी कुछ भी नहीं कर पाया। गर्भ में प्रतिज्ञायें तों करके आया था किन्तु अपनी पूरी जिन्दगी में उन प्रतिज्ञाओं का कभी ख्याल भी नहीं आया कि मैंने जो प्रतिज्ञा की थीं अब तक लवलेश भी उनका पालन नहीं कर पाया!

मनुष्य की आयु कि विभाग वर्णन भी श्री भर्तहरि जी महाराज ने एक और श्लोक में बड़े अच्छे ढ़ंग से लिया है। विज्ञ पाठकों को भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि किस प्रकार से समय बीतता जा रहा है। पढ़िये श्री भर्तहरि जी के मार्मिक बोधदायक शब्दों को :—

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं
रात्रौ तदर्ध गतं।
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धम-
परं बालत्ववृद्धत्वयोः।।
शेषं व्याधिवियोगदुःख
सहितं सेवादिभिर्नीयते।
जीवे व्याधिवियोगदुःख
सहितं सेवादिभिर्नीयते।
जीवे वारितरंगचञ्चलतरे-
सौख्यं कुतः प्राणिनाम्।।

अर्थात् हमारे शास्त्रीय सिद्धान्त से शतायुर्वेपुरुष के नियमानुसार मनुष्य की परमायुसौ वर्ष निश्चय हुई। उस सौ वर्ष की आयु में से आधी के तीन बँटवारे कर लिये जायें तो इसमें से एक भाग बालकपन की अबोध अवस्था में निकल जाता है। दूसरा भाग बुढ़ापे में निकल जाता है, रहा तीसरा भाग जिसको हम युवावस्था का भाग मानते हैं। इसमें भी अनेक प्रकार के दुःख देखने में आते हैं। किसी किसी नवयुवक की जवानी तो इतनी खराब आती है कि उसका आधा जीवन व्याधियों से ही ग्रसित रहने में चला जाया करता है। कुछ जीवन पराई सेवा, व्यर्थ प्रकार के क्लेश, ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा आदि चर्चाओं में, और अनेक प्रकार के मनोरंजन एवं हास-विलास आदि में व्यतीत हो जाता हे। इस प्रकार जल-तंरग के समान मनुष्य जीवन असार है, देखते ही देखते खत्म हो जाया करता है और केवलमात्रा पश्चात्ताप ही हाथ लगता है और अपने जीवन में पश्चात्तापयुक्त होकर के मनुष्य यह भली प्रकार समझ लेता है कि—

भोगा न भुक्ता, वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं, वयमेव तप्ताः।।
कालो न यातो, वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णाः।।

अर्थात् हमारा सारा जीवन व्यतीत हो गया। नाना प्रकार के भोग-भोगे। किन्तु उन भोगों के भोगते हुए हमारा जीवन ही समाप्त हो गया, किन्तु भोग समाप्त नहीं हुए अपने सारे जीवन में हमने कभी तप नहीं किया, किन्तु संसार के राग-द्वेष जलन-जलेवे की अग्नि में हम स्वयं तपते रहे। समय वही है, उसी प्रकार से सूर्य निकलता और अस्त होता है। समय कहीं नहीं गया, किन्तु हम चले गये। सारी जिंदगी व्यतीत हो गई, इच्छाओं की पूर्ति के लिये नाना प्रकार के प्रपंच रचे, किन्तु हमारी तृष्णायें खत्म नहीं हुईं। हम तृष्णाओं में स्वयं ही खत्म हो गये।

इस प्रकार समय निकल जाने पर मनुष्य पश्चात्ताप की अग्नि में जला करता है, किन्तु उसके कुछ हाथ नहीं लग पाता, क्योंकि वह कर्म करने लायक अपनी आयु का उत्तम भाग व्यर्थ के क्रिया-कलापों के अन्दर खो दिया करता है। इसलिये मनुष्य-जीवन की नश्वरता को एवं

अनित्यता को समझ करके कुछ सख-साधन का प्रयत्न कर लेना चाहिये। इसका भी संकेत श्री भर्तहरि जी महाराज ने बहुत सुन्दर शब्दों में कर दिया है। पाठकगण इस पर ध्यान दें और मन को पवित्र करके परम विरक्त योगिराज श्री भर्तहरि जी के आदेश को सुनें—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं
यावच्च दूरे जरा।
यावच्चेन्द्रिय शक्तिर प्रतिहता
यावत्क्षयो नायुषः।।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा,
कार्यः प्रयत्नो महान्प्रोद्दीप्ते।
भवने च कूपखननं,
प्रत्युद्यमः कीदृशः।।

अर्थात् जब तक यह शरीर स्वस्थ है और बुढ़ापा दूर है और इन्द्रियों की शक्ति किसी भी प्रकार से घटी नहीं है एवं आयु क्षीण नहीं हुई है। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि तब तक अपने आत्म-कल्याण का पूरा प्रबन्ध कर ले। महल में आग लग जाने पर यदि कोई मनुष्य पानी प्राप्त करने के लिये कुआं खोदने का प्रयत्न करता है तो वह उसकी आकांक्षा बिल्कुल व्यर्थ और अपूर्ण ही रहती है, क्योंकि जितना जल्दी से जल्दी पुरुषार्थ करके कुआं खोदेगा, इतनी देर में तो सारा महल भस्मीभूत हो लेगा। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि शरीर में जवानी की तरंगें रहते हुए मनुष्य जीवन की नश्वरता को एवं दुर्लभता को और इसी प्रकार गर्भावस्था में की हुई अपनी प्रतिज्ञाओं को भली प्रकार से सोच समझ करके ऐसा प्रयत्न कर लें, जिससे सभी पुण्यों को देने वाला स्वर्ग और मोक्ष के लिये सीढ़ी के समान पवित्र मनुष्य शरीर को पाकर तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान आदि के द्वारा अपने आपको कृतार्थ बना ले, जिससे कम से कम जब तक मोक्ष द्वार विभेदन नहीं होता, तब तक मनुष्य शरीर तो मिलता ही रहे। इसे पा लेना ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

कर्म बन्धन से छुटकारा

योगवासिष्ठ का मत है— कर्म का वास्तविक स्वरूप मानसिक है। जगत् में जिस क्रिया को कर्म कहा जाता है, उसका असली रूप मनका वासनात्मक स्पन्दन है। मनका स्पन्दन ही कर्म का प्रेरक है। बाहर से दिखाई देने वाली कर्मेन्द्रियों की क्रिया को कर्म नहीं कहते। अज्ञानी को अपने सब कर्मों का फल इसलिये भुगतना पड़ता है कि उसके कर्मों का सार वासना है। वासना के क्षीण हो जाने से ज्ञानी को अपनी किसी क्रिया का फल नहीं भोगना पड़ता। वासना के अभाव से सब क्रियाएँ फल रहित हो जाती हैं। वासना से अनेक प्रकार के सङ्कल्पों का उदय होता है और सङ्कल्पयुक्त होने से ही बन्धन होता है, इसलिये सङ्कल्प का त्याग करो। सम, शुद्धि और विकार-रहित बुद्धि से जो कुछ भी किया जाता है वह कभी दोष नहीं लाता। असक्त मन वाला शुभ या अशुभ क्रियाओं को नित्यप्रति करता हुआ या त्यागता हुआ भी कभी संसार में नहीं पड़ता और जिस अज्ञानी ने मन से त्याग नहीं किया वह शुभ या अशुभ क्रियाओं को न करता हुआ भी मन से संसार-समुद्र में निरन्तर डूबता ही रहता है। मन का इस प्रकार का निश्चय कि यह वस्तु प्राप्त करने योग्य है और उसको प्राप्त करने की वासना और फिर चेष्टाएँ— तीनों कर्तृत्व कहलाते हैं। कार्य का कर्ता होने के कारण ही जीव उसका फल भोगने वाला होता है, यह सिद्धान्त है। अज्ञानी जीव चाहे कर्म करे या न करे तो भी वह कर्ता है और वासना-रहित होने से ज्ञानी जीव अकर्ता है — चाहे वह कर्म करे या न करे।

आहार शुद्धि एवं उसका उत्कृष्ट परिणाम

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

यह निश्चित सिद्धान्त की बात है—

आहार शुद्धौ सत्व शुद्धौ,

सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृति।

अर्थात् आहार शुद्ध होने पर सतोगुण की शुद्धि और सतोगुण के शुद्ध होने पर निश्चित की मनुष्य को समाधि प्राप्त होती है। इसलिये ध्रुवा-स्मृति के कायम रखने में अन्न एक विशेष सहायक वस्तु है। हमारी शास्त्रीय परिभाषा है—

यथा अन्नम् तथा मन:।

अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार का अन्न सेवन करता है, उसी प्रकार का उसका मन बन जाया करता है। यही कारण है कि आज इस कलियुग के समय में ऊँचे-ऊँचे पदाधिकारियों को अपने काम कराने के लिये लोग बड़ी-बड़ी डालियाँ पेश करते हैं और अच्छे-अच्छे भोजन कराते हैं। जिसका परिणाम होता है कि लोग उनके आतिथ्य को पाकर प्रसन्न हो जाते हैं और उनके काम कर दिया करते हैं। महाभारत के उद्योग-पर्व में नकुल सहदेव के मामा महाराजा शल्य का उपाख्यान मिलता है। महाराजा शल्य अपने सम्बन्धित्व के नाते पाण्डवों के मामा लगते थे और उस लड़ाई में उनको पाण्डवों की ही मदद करनी चाहिये थी। महाराजा शल्य आये भी थे पाण्डवों की ही मदद ही करने को। किन्तु रास्ते में धोखा दे करके दुर्योधन ने उनका इतना ऊँचा सत्कार किया कि वह कह उठे कि—

इष्टोऽर्थो गुह्यता मिति।

अर्थात् हे दुर्योधन! तुम अपना अभीप्सित वर मांगों। महाराजा शल्य के ऐसा कहने पर दुर्योधन ने उनसे अपना सेनापति ही होने का वरदान मांग लिया और इस प्रकार उनके सारी सैन्य बल को अपनी ओर कर लिया। यह था 'यथा अन्नम् तथा मन:' का प्रभाव। आजकल के घोर कलिकाल में भी इस प्रकार की अनेकानेक घटनाएँ घटित होती रहती हैं। यही कारण है कि हमारे सनातन धर्म में विवाह-शादियों में या अन्यान्य उत्सवों में सह-भोज की प्रथा बहुत अधिक मात्रा में प्रचलित है। यह सहभोज एक-दूसरे के मनों को इकट्ठा कर देता है। प्राय: सनातन धर्म के सिद्धान्तों के मानने वाले तपस्वियों का, ब्राह्मणों का निमन्त्रण प्राय: अत्यन्त विनम्रतापूर्वक अपने घरों में किया करते हैं और यह चाहना भी करते हैं कि भोजनोपरान्त वे लोग उनको अमीप्सित वरदान देकर जायें और जैसी जिसकी सामर्थ्य होती है वे आमन्त्रित व्यक्ति वैसा ही आशीर्वाद देते भी हैं। जैसा मनुष्य अन्न सेवन करता है वैसे ही अन्न का प्रभाव उसके मन पर अवश्य पड़ता है। इस विषय में मुझे अप-बीती एक छोटी-सी घटना याद आती है, जिसका यहाँ उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ।

एक बार परम करुणार्णव मेरे गुरुदेव योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ऋषिकेश के श्री योग-साधन आश्रम में विराजमान थे। उस समय उनके पास एक जेल का दरोगा भेंट निमित्त कुछ मिठाई लिये हुए उपस्थित हुआ। वह मिठाई श्री प्रभुजी ने उससे रखवा तो ली, किन्तु बांटने व खाने के लिये संकेत से सबको इन्कार कर दिया। फिर भी किसी अपरिचित भाई ने वह मिठाई बांट दी और प्रसाद रूप समझकर सभी साधकों ने उसे पा लिया। इसका परिणाम यह निकला कि सभी के मन कलुषित हो गये व तीन चार रोज के लिये वे अपने नैत्यिक अभ्यास से सब बिल्कुल खाली हो गये। जिस समय सभी बहिन-भाइयों ने प्रार्थना करते हुए इसका कारण पूछा तो उन्होंने उतर दिया कि इन लोगों की दृष्टि गीध जैसी होती है। अत: इसकी कमाई का अन्न तुम सबको नहीं खाना चाहिये था। इसलिये सुश्रुत में **''आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृति।''** कहकर मनुष्य के जीवन में आहार शुद्धि को एक आवश्यक कर्त्तव्य बताया हे और इसका निर्देश किया है जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने गीता के सत्रहवें अध्याय में। जहाँ तीन प्रकार के आहारों का वर्णन किया गया है। वे आहार सत्व प्रधान प्राणियों को, रज प्रधान प्राणियों को, तमोगुण प्रधान प्राणियों को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रिय होते हैं—

सतोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार —

आयु: सत्व बलारोग्य,

सुख प्रीति विवर्धना:।

रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या,

आहारा: सात्विका प्रिया:।।

अर्थात् आयु वृद्धि करने वाले सत्व वृद्धि करने वाले, बल को बढ़ाने वाले, आरोग्यता देने वाले, सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले रसीले, चिकने जिनकी शक्ति कायम रहने वाली है, जो हृदय को पुष्ट करने वाले हैं अर्थात् जो स्वभाव से ही रुचिकर हैं, ऐसे आहार सात्विक कहलाते हैं और यह सतोगुण प्रधान व्यक्तियों को ही अच्छे लगते हैं। जिन आहारों का लक्षण जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने ऊपर के श्लोकों में किया है, वे सारे के सारे गुण गौ-घृत, दूध, मक्खन, मलाई आदि पेय पदार्थ गेहूँ, चना, जौ

या रसीले सेब, सन्तरा, अंजीर और मुसम्मी आदि फलों व घीया, बथुआ, तोराई, चौलाई, पालक, मेंथी आदि पत्ती के साग और पवित्र कन्दमूलों का आहार ये सब सात्विक आहार हैं। इनके सेवन करने से मन में सतोगुण का ही विकास होगा। बुद्धि पवित्र रहेगी और सतोगुण प्रधान व्यक्ति को स्वभावत: यही गुण प्यारे भी लगेंगे।

रजोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार —

कट्वम्ललवणात्युष्ण,
तीक्ष्ण रूक्ष विदाहिन:।
आहारा राजसस्येष्टा,
दु:ख शोकामय प्रदा:।।

अर्थात् कड़वे— करेले आदि, खट्टे-आम की खटाई आदि, ज्यादा नमक वाले अत्यन्त गर्म, जिसमें बहुत अधिक मिर्च पड़ी हो और रूखे व खुश्क तेज मिर्चों के पकौड़े आदि जो इसी प्रकार के शरर में दर्द देने वाले, गर्मी पैदा करने वाले, दु:ख और चिन्ता को पैदा करने वाले इस प्रकार के भोजन रजोगुण को बढ़ाने वाले होते हैं। जो रजोगुण प्रधान व्यक्ति हैं उन्हें यह सब भोजन प्रिय होते हैं।

तमोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार —

यातयामं गतरसं पूति,
पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं,
भोजनं तामसप्रियम्।।

अर्थात् रस रहित दुर्गन्धयुक्त वासी उच्छिष्ट एवं रसरहित भोजन तमोगुण का बढ़ाने वाला है और तामस व्यक्तियों को ही यह प्रिय होता है। जैसे पहले दिन के बने हुए जिन पर से रात उतर चुकी है। वे गत रस हो जाते हैं, ऐसे भोजन तम प्रधान होते हैं। जितने जिस-जिस स्वभाव के व्यक्ति संसार में रहते हैं, उनको उसी प्रकार का खान-पान, रहन-सहन प्रिय हुआ करते हैं। योगी के लिये सान्विकी बन जाना बहुत आवश्यक है। जब तक उसके अन्दर सतोगुण की वृद्धि नहीं होगी तब तक वह अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा। इसके साथ-साथ एक बात का और ध्यान रखना आवश्यक है कि मन की शक्ति सब आहारों में परिवर्तन कर देती है। दूध, घी, फल कन्दमूल, साग-सब्जी ये सब भोजन सात्विक हैं, किन्तु कोई पाप-कमाई करने वाला ऐसे आहार खिलाता है तो उसमें उसके मन का असर रहा करता है। सुनते हैं कि ननकाना साहब ने एक बार गुरु नानकदेव के सामने एक नवाब की ओर से घृत पकवान सुमधुर भोजन खाया और दूसरी ओर से दो सूखी रोटी कोई किसान लेकर आया। गुरु नानकदेव ने वह रोटियाँ स्वीकार कर लीं, किन्तु वह भोजन स्वीकार नहीं किया। लोगों ने उनसे हठ की कि क्या कारण है, इतने पवित्र घी दूध के भोजन को आपने त्याग दिया और सूखे जौ की रोटियों को सहसा स्वीकार कर लिया। गुरु नानकदेव ने जवाब दिया— इन सूखी रोटियों में दूध है और इस घृत के भोजन में खून है, तमोगुण है। इसलिये ऐसा तमोगुण प्रधान भोजन मुझे रुचिकर नहीं था। यह कहकर उन्होंने पूड़ी उठाकर निचोड़ी। रोटियो से दूध व पूड़ियों से खून गिरने लगा। लोगों ने इस चमत्कार को देखकर बड़ा आश्चर्य माना। इसलिए मनुष्य को चाहिये कि वह भोजन सात्त्विक करें। वह नेक कमाई का हो तो सोने पर सुहागा होगा। इसके अतिरिक्त भगवान ने गीता में आज्ञा दी है—

युक्ताहार विहारस्य
युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नाव बोधस्य
योगी भवति दु:खहा।।

अर्थात् जिसका आहार-विहार युक्त है, जिनका सोना व उठना युक्त है और जिनकी हर चेष्टा नियमित होती है उनके लिये योग दु:खों का नाश करने वाला है। इसलिये सात्विक आहार के साथ-साथ युक्ताहार विहार के नियम का पालन करना आवश्यक है। मनुष्य को भोजन खूब चबा-चबाकर करना चाहिए। दूध को थोड़ा-थोड़ा करके पीना चाहिये इससे साधकों को यह अनुभव होता रहे कि चबाया हुआ पदार्थ पेट में पहुँचते ही हजम हो चुका है। आधा पेट भोजन करे, आधा जल से और चतुर्थ भाग वायु के लिये खाली रहने दे। इस प्रकार का आहार हर व्यक्ति के लिये पूर्ण लाभदायक है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि एक नौ-जवान जो शीर्षासन आदि करता है वह अपने आहार को इतना संयमित कर दे कि सहनशक्ति से बाहर हो जाय। इसका परिणाम भी अवश्य खराब निकलता है। ऐसे व्यक्तियों को भूखा नहीं रहना चाहिये, न ही उपवास करना चाहिये। उपरोक्त नियम उन परमार्थ जिज्ञासुओं के लिये हैं जो हर समय स्वाध्यायशील और समाहित चित्त में बने रहते हैं। नैत्यिक व्यायाम करने वाले नौजवानों के लिये उपयुक्त आहार करना व भूख को न मारना आवश्यक है।

जैसा अन्न वैसा मन

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

यह निश्चित सिद्धान्त की बात है कि :-

आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धि,

सत्त्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृति:।

अर्थात् आहार शुद्ध होने पर सतोगुण की शुद्धि होती है और सतोगुण के शुद्ध होने पर ही मनुष्य को समाधि प्राप्त होती है। इसलिये ध्रुवस्मृति के कायम रखने में अन्न एक विशेष सहायक वस्तु है। हमारी शास्त्रीय परिभाषा है।

'यथा अन्नम् तथा मन:।'

अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार का अन्न सेवन करता है उसी प्रकार का उसका मन बन जाया करता है। यही कारण है कि आज इस कलयुग के समय में ऊँचे-ऊँचे पदाधिकारियों को अपने काम कराने के लिये लोग बड़ी-बड़ी डालियाँ पेश करते हैं और अच्छे-अच्छे भोजन कराते हैं। इस अभिप्राय से कि वे लोग उनके आतिथ्य को पाकर प्रसन्न हो जांय और उनके आतिथ्य को पाकर प्रसन्न हो जांय और उनके काम कर दिया करें। महाभारत के उद्योगपर्व में नकुल-सहदेव के मामा महाराजा शल्य का ऐसा उपाख्यान भी मिलता है। महाराजा शल्य अपने सम्बन्धित के नाते पाण्डवों के मामा लगते थे और लड़ाई में उनको पाण्डवों की ही मदद करनी चाहिये थी। महाराजा शल्य आये भी पाण्डवों की ही मदद करने को थे किन्तु रास्ते में ही धोखा देकर के दुर्योधन ने उनका इतना ऊँचा सत्कार कर डाला कि वे उससे प्रभावित होकर कह उठे—

इष्टोऽर्थो गुह्यता मिति।

अर्थात् हे दुर्योधन तुम अपना अभीप्सित वर मांगो। महाराजा शल्य के ऐसा कहने पर दुर्योधन ने उनसे अपने दल का सेनापति होने का वरदान मांगा और उनके सारे सैन्य बल को अपनी ओर कर लिया। ऐसा होता है— **'यथा अन्नम् तथा मन:'** का प्रभाव। आजकल इस कलिकाल में भी इस प्रकार की अनेकानेक घटनायें घटित होती रहती हैं। यही कारण है कि हमारे सनातन धर्म में विवाह शादियों में या अन्यान्य उत्सवों में सहभोज की प्रथा बहुत अधिक मात्रा में प्रचलित हो गई हैं। यह सहभोज एक-दूसरे के मनों को इकट्ठा कर देता है। प्राय: सनातन धर्म के सिद्धान्तों के मानने वाले तपस्वियों का, ब्राह्मणों का निमन्त्रण अपनी अत्यन्त विनम्रतापूर्वक अपने घरों में किया करते हैं, और यह चाहा भी करते हैं कि भोजनोपरान्त वह लोग उनको अपना अभीप्सित बरदान देकर जायें और जैसी जिसकी सामर्थ्य होती है वे लोग वैसा आशीर्वाद देते भी हैं। जैसा मनुष्य अन्न सेवन करता है वैसे अन्न का प्रभाव उसके मन पर अवश्य तत्काल पड़ता है। इस विषय में मुझे आपबीती एक छोटी सी घटना याद आती है जिसका यहाँ उल्लेख करा देना बहुत उचित समझता हूँ।

एकबार परम करुणार्णव मेरे गुरुदेव योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ऋषिकेश के श्री योग-साधन आश्रम में विराजमान थे। उस समय उनके पास एक जेल का दरोगा भेंट निमित्त कुछ मिठाई लिए हुए उपस्थित हुआ। वह मिठाई श्री प्रभुजी ने उससे रखवा तो ली किन्तु बांटने व खाने के लिए संकेत से सबको इन्कार कर दिया। फिर भी किसी अपरिचित भाई ने वह मिठाई बांट ही दी और प्रसाद रूप समझ कर सभी साधकों ने खा ली। उसका परिणाम यह निकला कि सभी के मन कलुषित हो गये, व तीन-चार रोज के लिये अपने नैमित्यिक अभ्यास से बिल्कुल खाली हो गये। जिस समय सभी बहन-भाइयों ने प्रार्थना करते हुए इसका कारण पूछा तो उन्होंने करते हुए इसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि इन लोगों की दृष्टि गीध जैसी होती है। अत: इसकी कमाई का अन्न तुम सबको नहीं खाना चाहिये था। इसलिए सुश्रुत में- **'आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि, सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृति'** कहकर मनुष्य के जीवन में आहार शुद्धि एक आवश्यकीय कर्तव्य बताते हुए इसका निर्देश किया है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी ने गीता के सत्रहवें अध्याय में ऐसे तीन प्रकार के आहारों का वर्णन किया है, जो कि— सत्व प्रधान प्राणियों को, रजोगुण-प्रधान प्राणियों को तथा तमोगुण प्रधान को अपनी-अपनी रुचि व प्रकृति के अनुसार प्रिय होते हैं यथा—

सतोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार—

आयु: सत्व बलारोग्य सुख प्रीति विवर्धना:।

रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्विका प्रिया:।।

अर्थात् आयु वृद्धि करने वाला सत्व वृद्धि करने वाले, बल को बढ़ाने वाले, आरोग्यता देने वाले, सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले रसीले, चिकने जिनकी शक्ति कायम रहने वाली है, जो हृदय को पुष्ट करने वाले हैं अर्थात् जो स्वभाव से ही रुचिकर हैं ऐसे आहार सात्विक कहलाते हैं और

यह सतोगुण प्रधान व्यक्तियों को ही यह अच्छे लगते हैं। जिन आहारों का लक्षण जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण ने ऊपर के श्लोकों में किया है वे सारे के सारे गुण गौ घृत, दध, मक्खन, मलाई आदि पेय पदार्थ गेहूँ, चना, जौ या रसीले सेव, सन्तरा, अंजीर और मुसम्मी आदि फल घीया, बथुआ, तोरई, तोराई, चौलाई, पालक, मेथी, आदि पत्ती के साग और पवित्र कन्द मूलों का आहार ये सब सात्विक आहार हैं। इनके सेवन करने से मन में सतोगुण का ही विकास होगा, बुद्धि पवित्र रहेगी और सतोगुण प्रधान व्यक्ति को स्वभावत: यहा गुण प्यारे भी लगेंगे।

रजोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार

कट्वम्ललवणात्युष्णातीक्ष्णरुक्षविदाहिन:।

आहारा राजसस्येष्टा दु:खशोकामयप्रदा:।।

अर्थात् कड़वे-करेले आदि खट्टे आम की खटाई आदि, ज्यादा नमक वाले अत्यन्त गरम, जिरामे बहुत अधिक मिर्च पड़ी हो और रूखे व खुश्क तेज मिर्चों के पकोड़े आदि जो इसी प्रकार के शरीर में दर्द देने वाले, गर्मी पैदा करने वाले, दु:ख और चिन्ता को पैदा करने वाले— इस प्रकार के भोजन रजोगुण को बढ़ाने वाले होते हैं। जो रजोगुण प्रधान व्यक्ति है उन्हें यह सब भोजन प्रिय होते हैं।

तमोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार-

यातयातं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।

उच्छिमष्टपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।

अर्थात् रस रहित दुर्गन्ध युक्त बासी उच्छिष्ट एवं रस रहित भोजन तमोगुण का बढ़ाने वाला है। और तामस व्यक्तियों को ही वह प्रिय होता है। जैसे पहले दिन के बने हुये जिन पर से रात उतर चुकी है और गत रस हो जाते हैं। ऐसे भोजन तम प्रधान होते हैं जितने जिस-जिस स्वभाव के व्यक्ति संसार में रहते हैं उनको उसी प्रकार का खान-पान रहन-सहन प्रिय हुआ करता है। योगी के लिये सात्विक बन जाना बहुत आवश्यक है। जब तक उसके अन्दर सतोगुण की वृद्धि नहीं होती तब तक वह अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा। इसके साथ-साथ एक बात का और ख्याल रखना आवश्यक है कि मन की शक्ति सब आहारों में परिवर्तन कर देती है। दूध, घी, फल, कन्द-मूल, साग-सब्जी ये सब भोजन सात्विक हैं, किन्तु कोई पाप की कमाई करने वाला ऐसे आहार खिलाता है, तो उनमें उसके मन का असर रहा करता है। सुनते हैं ननकाना साहब में एक बार गुरु नानकदेव के सामने एक नवाब की ओर से घृत आदि से युक्त सुमधुर भोजन आया और दूसरी ओर से दो सूखी रोटी कोई किसान लेकर के आया। गुरु नानकदेव ने वह रोटियाँ स्वीकारं कर ली किन्तु वह पकवान का भोजन स्वीकार नहीं किया। लोगों ने उनसे हठ की कि क्या कारण है जो इतने पवित्र घी दूध के भोजन को आपने त्याग दिया और सूखे जौ की रोटियाँ को स्वीकार कर लिया। गुरु नानक देव ने जवाब दिया इन सूखी रोटियों में दूध है और इन घृत के भोजन में खून है तमोगुण है। इसलिए ऐसा तमोगुण प्रधान भोजन मुझे रुचिकर नहीं था। यह कहकर उन्होंने पूड़ी उठा निचोड़ी। रोटियो से दूध व पूड़ियों से खून गिरने लगा। लोगों ने इस चमत्कार को देखकर बड़ा आश्चर्य माना। इसलिए मनुष्य को चाहिये भोजन सात्विक करें। वह नेक कमाई का हो तो सोने पर सुहागा होगा। इसके अतिरिक्त भगवान ने गीता में आज्ञा दी हैं :-

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा।।

अर्थात् जिसका आहार-विहार युक्त है जिनका सोना व उठना युक्त है और जिनकी हर चेष्टा नियमित होती है उनके लिये योग दु:खों का नाश करने वाला है। इसलिये सात्विक आहार के साथ-साथ युक्ताहार विहार के नियम का पालन करना आवश्यक है। मनुष्य को भोजन खूब चबाकर करना चाहिये। दूध को थोड़ा-थोड़ा करके पीना चाहिये। इससे साधकों को यह अनुभव होता रहे कि चबाया हुआ पदार्थ पेट में पहुँचते ही हजम हो चुका है। आधा पेट भोजन करे, आधा जल से और चतुर्थ भाग वायु के लिये खाली रहने दे। इस प्रकार का आहार हर व्यक्ति के लिये पूर्ण लाभदायक है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि एक नौजवान जो शीर्षासन आदि करता है वह अपने आहार को इतना संयमित कर दे कि सहन शक्ति से बाहर कर हो। इसका परिणाम भी अवश्य खराब निकलता है। ऐसे व्यक्तियों को भूखा नहीं रहना चाहिए। न ही उपवास करना चाहिये। उपरोक्त नियम उन परमार्थ जिज्ञासुओं के लिए हैं जो हर समय स्वाध्याय शील और समाहित चित्त में रहते हैं। नैत्यिक व्यायाम करने वाले नौजवानों के लिये उपयुक्त आहार करना व भूख को न मारना आवश्यक है।

जीवन-लक्ष्य प्राप्ति का साधन-योग

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

मानव अपने जीवन लक्ष्य की प्राप्ति केवल योग-मार्ग का अनुसरण करके ही कर सकता है। योग ही परम पुरुषार्थ मुक्ति का प्रदाता है और योग ही वह अमृत है, जिसका पान करके मनुष्य न केवल मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है बल्कि वह सर्वविधि ऐश्वर्यशाली भी बन सकता है। योगी का जीवन ही ऐसा जीवन होता है जिसमें सर्व समर्थता और सर्व सम्पन्नता समाहित रहती है।

''अदीनां स्याम शरद: शतं'' और ''श्याम पतयो रमीणाम्'' के मन्त्र योगी के जीवन में ही मूर्तरूप लेते हैं। ऋद्धि-सिद्धि से संपन्न होकर योगी स्वयं का कल्याण करने के साथ-साथ अन्य दु:खी और पाप-ताप पीड़ित प्राणियों का कल्याण करने की भी क्षमता वाला होता है। दु:ख और आश्चर्य की बात यह है कि इहलोक और परलोक दोनों को ही सुधारने और सद्गति प्रदान करने वाले इस मार्ग को अपनाकर उस पर चलने वाले साधकों की संख्या अधिक नहीं है। यही कारण है कि आज का मानव समाज दु:खी है, अशान्ति, अनाचार और अत्याचार की वेदनाओं से पीड़ित और प्रताढ़ित होकर कराह रहा है। इस दयनीय अवस्था से त्राण पाने का मार्ग केवल एक है और यह है योगारूढ़ होकर जीवन को यम-नियमों की मर्यादाओं के अनुसार ढालकर उसे सर्वविधि पावन बनाना। जो ऐसा कर पाते हैं वे साधक यशस्वी बनकर जीवन को सफल और सार्थक कर जाते हैं। प्रतिकूल इसके जो यम-नियमों का पालन न करके स्वेच्छाओं और वासनाओं के अधीन रहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे भले हो बाबू शब्द की उपाधि से विभू रहें, किन्तु वास्तव में होते हैं वे गन्दगी के आगार ही। इसीलिये वे बा बू यानी गन्दगी या बदबू के ढेर ही कहलाने के अधिकारी होते हैं। इन बाबुओं का जीवन बिल्कुल दिखावटी कृत्रिम जीवन होता है। आहार-विहार जागरण और निद्रा, उठने-बैठने किसी भी चर्या में इनका कोई नियम नहीं होता। चाहे जब चाहे जितना खा लेना, चाहे जब सोना और जब मन चाहे तब जागना ऐसा स्वेच्छाचारी होता है आज के बहु-संख्यक बाबुओं का जीवन। योग-साधना के पथ में ऐसे अनियमित जीवन को त्याग कर उसे संयमित और नियतमित कर लेना साधक का प्राथमिक और आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए। नियमानुवर्तिता का बिना पालन किये साधक को इस पथ में कोई सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

श्री गुरुदेव जी में श्रद्धा भावना रखते हुए उनके निर्देशन में चलना भी इसमें आवश्यक होता। आगे अपने बोधवर्द्धक प्रवचन में अपने ही आश्रम के कई साधक शिष्यों के उदाहरण देते हुए विस्तार से बताया कि किस प्रकार गुरुदेव के निर्देशन और नियमानुवर्तिता का पालन करते हुए इन्होंने अल्पकालन में ही उच्चतम स्थिति प्राप्त कर ली थी।

हमारे आश्रम के इन शिष्यों में से एक का नाम था अशोक! ब्रह्मचारी अशोक की महान आत्मा हाल ही में इस लोक से प्रयाण कर परलोक की अनुगामिनी बनी है। उसका रहना इस दुनियां में बहुत ही अल्प विधि का रहा। आश्रम के सम्पर्क में आकर इसने योगदीक्षा लेने के पश्चात् तप, संयम और साधना को अपने जीवन का आधार बनाया। श्रद्धापूर्वक गुरुदेव जी की आज्ञा-पालन को भी क्रियात्मक रूप देना उसकी दिनचर्या का विशेष रूप देना उसकी दिनचर्या का विशेष अंग था। प्रशासन में एक ऊँचा पद पाकर भी वह बहुत सादा और सात्विक जीवन व्यतीत करने का आदी था। पद का अभिमान इसमें बिल्कुल भी न था यदि उसे निर्देश दिया गया कि अल्पहारी बनो, तो वह अल्पहार पर निर्भर रहता, निद्राजित बनने को कहा गया तो वह वैसा ही बनने का अभ्यास करने लगा। कहने का अभिप्राय यह है कि उसको जो आज्ञा दी गई, तदनुकूल ही उसका आचरण होने लगा। अपनी इस संयमशीलता और नियमानुवर्तिता के कारण उसने वह ऊँची स्थिति प्राप्त कर ली जिसके कारण उसे अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया और पूर्वाभास के फलस्वरूप उसने अपने कुटुम्बियों को अपनी मृत्यु का निश्चित और निर्धारित समय तक बता दिया था। साथ ही उसने अपना प्राण विसर्जन भी योगियों की विधि के अनुसार ही किया।

दूसरा एक साधक जो कुछ वर्ष पहले इस आश्रम में रहा था और बाद में जिसने नर्मदा की ओर जाकर निरन्तर यौगिक साधनायें की थी। यह परकाया प्रवेश की सिद्धि को पा गया था। इसने दो बार उसने अपने भौतिक शरीर को प्राणहीन बनाकर अन्य की काया में प्रवेश किया और बाद में अपनी सुरक्षित रखवाई हुई काया में पुन: प्रवेश कर उसे प्राणवान् बनाने में सफलता पाई थी। यह हैं योग-साधना के कुछ जीवित उदाहरण, जिनसे आज के योग-साधक और योग-प्रेमियों को समुचित शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। नियमानुर्तिता योग की पहली शर्त है। इसका सोते-जागते, बैठते-उठते, आहार-विहार आदि सभी अवसरों पर पालन होना चाहिए। श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने मुख से कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति,
न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य,
जाग्रतो नैव चार्जुन।।
युक्ताहारविहारस्य,
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य,
योगो भवति दुःखहा।।

— गीता ६/१६-१७

अर्थात् हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का सिद्ध होता है और न बिल्कुल खाने वाले का सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खाने वाले का तथा न अति शयन करने के स्वभाव वाले का और न अत्यन्त जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथा योग्य आहार-विहार करने वाले का तथा यथा योग्य चेष्टा करने वाले का और यथा योग्य शयन करने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

ऐसी आदत नियमानुवर्तिता का पालन करने से ही बन सकती है। ब्रह्मचर्य का पालन भी ऐसी आदत बनाने की आवश्यक शर्त होती है। जो इस व्रत की उपेक्षा करते हैं वे भी यौगिक शक्ति का अमोघ फल पाने से वंचित रह जाते हैं। जो धैर्यपूर्वक सतत् साधनाओं में दीर्घकाल तक लगे रहते हैं, वे अपने गुरु-प्रदत्त-मन्त्र में अडिग विश्वास रखते हैं। वे योग की परमोच्च स्थिति को प्राप्त करके अपना इह-लौकिक और पारलौकिक कल्याण कर लिया करते हैं।

नये मार्ग की मञ्जिल

सतत् नये-नये विचार, नया ज्ञान, नये लोग ये सभी सृष्टि की प्रकृति के बारे में हमारी विज्ञता में निरन्तर परिवर्तन कर रहे हैं। व्यक्ति पर इसका सीधा और निर्णयात्मक परिणाम यह पड़ रहा है कि अब कोई भी बालक उसी प्रकार की दुनिया में रहने वाला नहीं, जिसमें उसके पिता और पितामह रह रहे हैं।

सहस्रों वर्षों से बच्चे अपने पूर्वजों के दिखाये मार्गों पर चलते रहते हैं। उन्हें सुस्थिर पथों पर चलने तथा संस्कारबद्ध जीवन जीने के लिए दीक्षित किया जाता रहा है और उन्होंने अपनी जन्म-भूमि तथा परिवार के साथ आन्तरिक सम्बन्ध कायम रखे हैं। आज न केवल अतीत से पूर्ण विच्छेद हो रहा है, वरन् बच्चे को एक अनजान भविष्य के लिए प्रशिक्षित करना भी अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

— श्री लक्ष्मीनारायण बिड़ला

योगानुभूति कैसे ?

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योगियों के विश्व इतिहास को पढ़कर और उनके दिव्य चरित्रों को सुनकर हर एक मनुष्य के मन में यह भावना पैदा होती है कि मैं योगी बन जाऊँ। साधक अपने जीवन को चमत्कारिक जीवन बनाना चाहता है। वह चाहता है कि मैं संसार के सामने शक्तिपुञ्ज बनकर निकलूँ। संसार वाले मुझे आश्चर्य से देखें। श्रीराम और श्रीकृष्ण का वैभव मेरे शरीर में दिखलाई दे। मैं जो चाहूँ कर सकूँ। मेरी यदृक्षा गति हो। मैं गोपीचन्द्र भृर्तृहरि की तरह से अजर-अमर हो करके संसार में बिचरूँ। काकभुसुण्ड़ि की तरह से मनुष्य लोक और देवलोक की हजारों प्रलयों को देखता रहूँ। किन्तु मैं स्वयं प्रलय के अन्दर विलीन होने वाला प्रलयभागी जीव न रहूँ, यही सब भावनायें हैं जो मनुष्य को योग मार्ग में प्रवृत्त होने को बाध्य कर देती हैं किन्तु योग प्रतीति कैसे हो, हम योग-मार्ग कैसे जानें? यह कुछ प्रश्न इस प्रकार के हैं जिनको मनुष्य हल नहीं कर पाता। **'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्नः'** के अनुसार प्राणी अपनी विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों को मन में धारण करके अपने मार्ग का चयन करता है किन्तु यह चयन किया हुआ मार्ग उसको अपने लक्ष्य तक पहुँचा देगा, यह कुछ नहीं कहा जा सकता। यही कारण रहा कि विभिन्न प्रकार के मतभेदों को मन में धारण करके प्रचारकों के मतभेदों को मन में धारण करके प्रचारकों ने लोगों के सामने विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों की स्थापनायें की, मतमतान्तर चलाये, एवं अपने आपको दुनिया के सामने नये रूप में उपस्थित किया तथा कुछ इने-गिने लोगों को अपने पीछे चला भी लिया, किन्तु अन्ततः निष्कर्ष रूप में परिणाम कुछ भी नहीं निकला। **''सूर्यचन्द्र मसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत''** के नियमानुसार उनके सिद्धान्त की भी वही गति हुई। खूब प्रचार किया, व्याख्यान दिये, लोगों के मन में विभिन्न प्रकार के मतभेद पैदा किए, किन्तु जब अपनी ओर आँख उठाकर देखा तो पता चला कि जहाँ के तहाँ खड़े हैं। किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं हो पायी। इसका कारण अपना अज्ञान, अकर्मण्यता एवं बुद्धिलौल्य। हमारे शास्त्र का आदेश है कि मनुष्य जिन बातों को स्वयं न जानता हो तब उसको शास्त्रों का अवलम्ब लेना चाहिए। जगदात्मा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया है :-

यः शास्त्र विधि मुत्सृज्य,
वर्तते काम कारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति,
न सुखं न परां गतिम्।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते,
कार्याकार्यं व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं,
कर्मं कर्तु मिहार्हसि।।

अर्थात् हे अर्जुन! जो शास्त्र विधि को छोड़ करके मनमाने ढंग से चलता है वह न सिद्धि को ही पा सकता है, न मुख-शान्ति और पूर्ण परमगति को ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए जहाँ पर कार्य और अकार्य की व्यवस्था है वहाँ पर शास्त्र को प्रमाण मान लेना चाहिए। और शास्त्र विधानोक्त कर्म करना चाहिए। न कि अभिमान के गर्त में पड़कर बिना सिद्धान्त के जाने और समझे अनेक प्रकार के निर्णय दे ड़ाले, केवल लौकिक प्रतिष्ठा को सामने रखकर नेतृत्व का अधिकार बढ़ाये एवं अपने आपको साक्षात् कृत धर्मा समझ करके सिद्धान्तों का निर्णय दें। मनुष्य को योग प्रतीति कैसे हो इसके विषय में हमारे शास्त्रीय निर्णय तीन प्रकार के हैं। वहीं सब बातें सर्वत्र संसार में देखने में भी आती हैं :—

योग प्रतीति का प्रथम प्रकार—

संसार में कुछ इस प्रकार के व्यक्तियों का प्रादुर्भाव देखने में आता है कि जो जन्म के ही अभ्यासी थे उनके अन्दर जन्मजात सिद्धियां थीं। उनके जीवन जन्म-ग्रहण करते ही चमत्कारिक थे। उनकी दिव्य कथायें उनकी अलौकिकता को प्रगट करती हैं। उदाहरण के लिए कबीर आदि की जीवन कथायें उनकी जन्मजात दिव्यता को बताती है। कबीरदास के अतिरिक्त गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि-आदि के विषय में भी अनेक कथानक मिलते हैं। यह सब उनकी जन्मजात सिद्धियों के परिचायक हैं। अर्थात् यह सब जन्म ग्रहण करते ही शक्तिमान थे और स्वतः ही इनको योग प्रतीति आरम्भ हो गई थी। इस विषय में भगवान् पतंजलिदेव स्वयं अपना निर्णय देते हैं :—

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृति लयानाम्। विदेहानाम् देवानाम प्रकृतियानाञ्च भव प्रत्ययो भवति।

अर्थात् जिन योगियों को आनन्दानुगति प्राप्त हो जाती है, और विशुद्ध सत्व के भावों को अनुभव करते हुए वे लोग उसमें अपने आपको

लय कर डालते हैं। उनको देह धर्मों का आभास बिल्कुल नहीं रहता— ऐसे लोग विदेह कहलाते हैं। उनका चित्त साधिकार होता है। अधिकारावधि तक ही चिन्तन करने वाला होता। इसलिए स्वसंस्कारोपभोग पर्यन्त इन योगियों का चित्त अपने आप को मुक्त समझता है। क्योंकि वह साधिकार है। परानुभूति को पहुँच नहीं सका है। अत: उसको जन्म ग्रहण करना पड़ता है। और इसी प्रकार से जो लोग अभ्यास करते-करते प्रकृतिलीन हो जाते हैं, उनका भी चित्त साधिकार होने से जन्म ही भोग प्रतीति हो जाया करती है।

देखिए इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव का भाष्य—

विदेहानां देवानां भव प्रत्यय:, तेहि स्वसंस्कार मात्रोपगेन चित्तेन कैवल्य पद भिवानुभवन्त: स्वसंस्कार विपाकं तथा नातीयकमति वाहयन्ति। तथा प्रकृतिलया: साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपद भिवानुभवन्ति। यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकार वशाच्चित्तम् इति।

विदेह और प्रकृतिलीन योगियों के विषयों का वर्णन करते हुए वायु पुराण में इस प्रकार लेख मिलता है :—

दश मन्वन्तराणीह,
तिष्ठान्तीन्द्रिय चिन्तका:।
भौतिकाश्च शतं पूर्ण,
सत्रह्मं त्वाभिमानिका:।
बौद्धा दश सहस्राणि,
तिष्ठन्ति विगत ज्वरा:।।
पूर्ण शत सहस्रंतु।
तिष्ठन्त्यव्यक्त चिन्तका:।
निर्गुणं पुरुषं प्राप्य,
काल संख्या न विद्यते।।

अर्थात् जो पुरुष इन्द्रियों का चिन्तन करते हुए, गन्ध तन्मात्र, रस तन्मात्र, रूप सन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, शब्द तन्मात्र आदि इन्द्रिय तत्वों का चिन्तन करते हुए प्रकृतिलीन होते हैं वे लोग दशमनवन्तर तक प्रकृतिलीन रहकर कैवल्यपाद जैसा अनुभव करते हैं। फिर उसके बाद साधिकार चित्त होने से उनको पुन: जन्म ग्रहण करना पड़ता है और इसी प्रकार सौ मन्वन्तर महाभूतों का साक्षात्कार करने वाले और भौतिक साक्षात्कार कर लेने पर अहं वृत्ति को धारण करने वाले हजार मन्वन्तर विगत ज्वर होकर अपने आपको कैवल्य जैसा अनुभव करते हैं।

इसके अतिरिक्त सौ सहस्र मन्वन्तर अव्यक्त प्रकृति में लीन होने वाले योगी अपने आपको कैवल्य जैसे शुख के उपभोक्ता होकर चित्त साधिकार होने से पुनर्जन्म ग्रहण कर लेते हैं और उनको भी जन्म ग्रहण करते ही योग को प्रतीति हो जाया करती है।

निर्गुणं पुरुषं प्राप्य काल,
संख्या न विद्यते।

इससे आगे गुणाधिकार समाप्त हो जाने पर जब मनुष्य निर्गुण चैतन्य को प्राप्त कर लेता है तो उसके चित्त का अधिकार समाप्त हो जाता है। गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है। पोरी दर पोरीं जुड़ा हुआ भाव-जाल टूट जाता है। सब संशय नाश हो जाते हैं। कर्मबन्धनों का क्षय हो जाता है। हृदयग्रन्थि घुल जाती है। ऐसा योगी पूर्णरूपेण कैवल्यपाद का अनुभव करने वाला बन जाता है। यही पराकाष्ठा है। और यही परागति है। सब लेख का केवलमात्र एक ही सार है और वह यह है कि विदेह और प्रकृतिलीन योगियों को (जिनका ऊपर के लेख में वर्णन हो चुका है) जन्म से ही बना किसी साधना के किये योग की प्रगति हो जाया करती है। यद्यपि ये लोग योग-भ्रष्ट हैं। किन्तु फिर भी इनका जन्म-जन्मान्तर कृत श्रम व्यर्थ नहीं जाता।

श्रीमद्भगवद्गीता में इसी विषय को लक्ष्य रखने वाला एक प्रश्न अर्जुन के भगवान श्री कृष्णचन्द्र से किया है—

अयति: श्रद्धयोपेतो,
योगाश्चलिति मानस:।
अप्राप्य योग संसिद्धिं,
कां गतिं कृष्ण गच्छति।।
कश्चिन्नोभय विभ्रष्ट-
श्छिन्ना भ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो,
विमूढ़ो ब्रह्मण: पथि।।
एतन्मे संशयं कृष्ण,
छेत्तुर्महस्य शेषत:।
त्वदन्य: सशंयस्यास्थ,
छेत्ता न ह्युपपद्यते।।

अर्थात् हे कृष्ण जो साधक योग से विचलित मन हो गया है और श्रद्धा पूर्णरूपेण उसमें कायम है और प्रयत्न कुछ बन नहीं पाता ऐसा साधक योग संसिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता हैं। कदाचित्त वह साधक परमात्मा के मार्ग में चलता हुआ विमूढ़ भाव को प्राप्त होकर उभयतो भ्रष्ट आश्रय रहित आकाश में फटे हुए बादल के समान नष्ट तो नहीं हो जाता। हे कृष्ण! तुम मेरे संशय का नाश करो। तुमसे बढ़कर इस संशय का नाश करने वाला दूसरा नहीं हो सकता है। भगवान श्री कृष्ण ने उत्तर में कहा :—

पार्थ नैवेह नामुत्र,
विनाशस्तस्य विद्यते।

न हि कल्याण कृत्कश्चिद्,
दुर्गतिं तात गच्छति।
प्राप्य पुण्य कृतां लोका,
नुषित्वा शाश्वती: समा:।
शुचीनां श्रीमतां गेहे,
योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव,
कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके,
जन्म यदीदृशम्।।
तत्र तं बुद्धि संयोगं
लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूय,
संसिद्धौ कुरुनन्दन।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव,
हियते ह्यशोऽपि स:।
जिज्ञासुरपि योगस्य,
शब्द ब्रह्मातिवर्तते।।

अर्थात् श्री भगवान बोले— हे अर्जुन! उस व्यक्ति का इस लोक और परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। क्योंकि कल्याण-मार्ग पर चलने वाला कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं हुआ करता है। ऐसा योगाभ्यासी व्यक्ति स्वकर्म जन्मदुर्विपाक से योगभ्रष्ट हो भी जाये तो वह व्यक्ति पवित्र श्रीमानों के घर जन्म ग्रहण कर लेता है। यहाँ पर पवित्र श्रीमानों का अर्थ उन लोगों से है जिनका ऐश्वर्य सत्कर्मों में व्यय होता रहता है। जो लोग परोपकारार्थ कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि बनाते हैं अन्न-क्षेत्र आदि चलाते हैं। और साधु, महात्मा तपस्वियों की सेवा करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त आत्म चिन्तन, हरिगुण गायन एवं ऐश्वर्यवान होते हुए भी योग परायण रहते हैं वही लोग पवित्र श्रीमान् कहाते हैं। ऐसे श्रीमानों के घर में ही उस योग भ्रष्ट साधक का महान पुण्य लोक स्वर्गादि का उपभोग हो जाने के बाद पुन: इस लोक में जन्म हुआ करता है या इसके अतिरिक्त बुद्धिमान योगियों के घर में जन्म हो जाया करता है। इस प्रकार का जन्म प्राप्त करना भी अत्यन्त दुर्लभ है। पुन: मनुष्य लोक में जन्म हो जाने के बाद वह साधक पूर्वाभ्यास से प्रेरित होकर पुन: अपने योगाभ्यास के लिए दृढ़तर प्रयत्न करता है। यह तो योगाभ्यास का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड से आगे निकल जाता है और उसके बाद—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु,
योगी संशुद्ध किल्विष:।
अनेक जन्म संसिद्ध,
स्ततो याति परां गतिम्।।

लगातार प्रयत्न करता हुआ साधक पाप हित होकर के अनेक जन्मों के प्रयत्नों से हम श्रेय को प्राप्त हो जाया करता है। का दर्जा सब प्रकार से उत्तम है। गदात्मा भगवान श्रीकृष्ण का आदेश है :—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिका:।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन।।

अर्थात् योगी का दर्जा तपस्विया से ज्ञानियों के परम ज्ञानियों से सब प्रकार से उत्कृष्ट है। इसलिए हे अर्जुन! तुम योगी बनो। इस छोटे से लेख की निम्नलिखित पंक्ति में 'भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम' इस सूत्र की व्याख्या भव प्रत्यम्' को बतलाने का प्रयत्न किया। विदेह और प्रकृतिलीन योगियों को जन्म से ही रोग की अनुभूति हो जाया करती है। जन्म-जन्मान्तर कृत अभ्यास एवं पूर्वोपार्जित पुण्य विशेष ही योगी का पग-पग पर सहायक होता है वह पूर्वाभ्यास ही 'योगिनोयोग एवोपाध्याय' के नियमानुसार योग ही उसका गुरु बन जाता है और साधक की पग-पग मदद किया करता है और वह साधक उस सहायता को पाकर के उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है। किन्तु उस साधक को चाहिए कि वह यदि जन्म-जन्मान्तर के पुण्य प्रभाव से पवित्र योगमार्ग की सद् गति पा जाय तो अल्हड़ आलसियों की तरह से काल यापन न करता रहे। ऐसा करना अपने अमूल्य समय को व्यर्थ में खोना ही होगा।

शास्त्र का सिद्धान्त है कि—

ना तपस्विनो योग: सिद्धयति।

अर्थात् जो तपस्वी नहीं है उसको योग सिद्ध नहीं हुआ करता। सिद्धि चाहने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह तत्परता के साथ तपश्चर्या करता हुआ संयतेन्द्रिय होकर अलभ लाभ हो जाने पर भी अपनी साधना को करता ही जाय। ऐसा करता हुआ वह अवश्य ही अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा।

वैराग्य की साधना

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमारे शास्त्रों में मन की एकाग्रता के लिये दो प्रमुख साधनों का वर्णन किया गया है। इनका नाम है- १. अभ्यास और २. वैराग्य।

मन को एकाग्र करने के लिये अभ्यास किये जाने वाले साधनों का बहुत कुछ वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि वेदान्त की साधनायें और यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि योग से संबंध रखने वाली साधनायें मन की एकाग्रता के लिये ही है। साधनायें मन की एकाग्रता के लिये ही है। साधनाओं में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता, चाहे मन महावाक्यों का मनन करते हुए श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का अभ्यास करें, चाहे समाधि प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर यम, नियम, आसन आदि के पालन में तत्पर होकर लगें, यह सब अभ्यास ही कहलाता है। अभ्यास इस प्रकार का साधन है, जिसको हर स्थिति का मनुष्य पालन कर सकता है। किन्तु उन सब में वैराग्य को मोक्ष का सर्वोत्तम साधन माना गया है। जो मनुष्य प्राक्तन कर्म-विपाक पुण्य के प्रभाव से विषयों से वितृष्ण हो जाता है उसको किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि इन्द्रियों के विषयों में वितृष्ण होना ही वैराग्य कहलाता है। इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से वीतराग हो जाना ही वैराग्य का भाव है। संसार की सभी वस्तुएँ भयान्वित हैं। किन्तु एकमात्र वैराग्यवान व्यक्ति भय-रहित हो करके निर्द्वन्द सोता है। श्री भर्तृहरि जी महाराज ने अपने वैराग्य-शतक में स्पष्ट शब्दों में कहा है—

भोगे रोगभयं कुलेच्युतिभयं,
वित्ते नृपालद् भयम्।
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं,
रूपे जराया भयम्।।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं,
कायें कृतान्ताद् भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि,
नृणां वैराग्य मेवाऽभयम्।।

अर्थात् **'भोगे रोग भयम्'** जो मनुष्य भोगों को भोगता चला जाता है वह अवश्य ही रोगी बन जाता है। भोग भोगने की इच्छा तो प्रबल रहती है, उस इच्छा को भोग करके ही मनुष्य क्षणमात्र के लिये हटा सकता है पर थोड़ी देर के बाद वही वासना और भी दुगना-चौगुना बल करके सामने आने लगती है। क्योंकि शास्त्रीय सिद्धान्त है-

न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति हविषा। कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते।

अर्थात् पैदा हुई कामनायें कभी उनके भोग से शांत नहीं होतीं, प्रत्युत अग्नि में घी डालने पर जिस प्रकार अग्नि उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। इसलिये भोग-भोगने से इन्द्रिय लौल्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही है। इस चपलता को मनुष्य या तो भोग के अनभ्यास से ही ठीक कर सकता है अन्यथा विगतराग हो करके ठीक कर सकता है।

उपर्युक्त श्लोक में श्री भर्तृहरिजी महाराज ने **'भोगे रोगभयं'** कह करके भोग का अन्तिम परिणाम दिखला दिया। भोग भोगने से इन्द्रियों की चपलता दिन-प्रतिदिन बढ़ती है। जितनी चपलता बढ़ेगी उतना ही मनुष्य भोग का भोक्ता बन जायेगा। जितना वह भोक्ता बनेगा उतना ही उसके शरीर से शक्ति का दिन-प्रतिदिन क्षय होता चला जायेगा। ज्यों-ज्यों शक्ति कम होगी त्यों-त्यों शरीर में रोग बढ़ते चले जायेंगे और भोगे रोगभयं का परिणाम सामने आता चला जायेगा। यदि हम ईश्वर की परमानुकम्पा से इन्द्रियों में वीतराग हैं तो हमारे मन में भोग की इच्छा ही नहीं बनेगी। भोगेच्छा मन में न बनने पर भोग प्रवृत्ति स्वत: ही बन्द हो जायेगी। इसलिये यह बिल्कुल सत्य और यथार्थ कहा गया है कि **'भोगे रोगभयं'** परश्चात् **'कुले च्युतिभयं।** एक व्यक्ति का कुल शीलवान है, उसके कुल में उसके पूर्वज लोग ऊँचे-ऊँचे आदर्शों को लेकर पैदा होते रहे हैं। उनकी संस्कृति और शिक्षा बड़ी उच्च भावों कौ चलती रही है। कदाचित कोई भ्रष्टात्मा जन्म ले ले और अपने रास्ते से भ्रष्ट हो जाय तो वह कुल-कलङ्क कहलाता है। इसलिये **'कुले च्युतिभयं'** का यथार्थ प्रयोग है। तत्पश्चात् **'वित्ते नृपालाद्भयं'** घर में यदि किसी प्रकार की सम्पत्ति इकट्ठी हो तो शासकों का भय बना रहता है। आजकल संसार में देखने में आता है कि जहाँ पर किसी प्रकार की भी बड़ी आय अथवा घर में सम्पत्ति दिखाई देती है तो सरकार सम्पत्ति कर लगा कर धन अधिक मात्रा में ले लेती है। मनुष्य यदि मौन रहता है तो दीनता का भय बना रहता है। सुन्दर रूप है तो बुढ़ापे का भय बना रहता है। शरीर है तो काल का भय रहता ही है। शास्त्रों का ज्ञाता है तो प्रति-पक्षियों का भय बना रहता है। सभी वस्तुएँ भयान्वित हैं। केवलमात्र वही मनुष्य निर्भय है जो इन सबके राग से परे निकल गया है, विरक्त हो गया है। इसलिये यह सब भर्तृहरि जी ने यथार्थ ही कहा है—

सर्वं वस्तु भयान्वित भुवि नृणां वैराग्य मेवाऽभयम्।

इन्हीं सब कारणों से वैराग्य को मोक्ष का नान्तरियत माना है। योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव जी ने 'पर' और 'अपर' वैराग्य को दो भागों में बाँट दिया है। जो मनुष्य अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण करके अपने आपको संयमित रखने की चेष्टा करता है, वह वशीकार संज्ञा वैराग्य अधिकारी है। वशीकार वंज्ञा वैराग्य का लक्षण योग-दर्शन में भगवान पतंजलिदेव जी ने इस प्रकार बतलाया है—

दृष्टानु श्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात् देखे और सुने हुए विषयों पर वशीकार होना वशीकार संज्ञा वैराग्य कहलाता है। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए भगवान व्यासदेव जी ने लिखा है—

स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्य्यमिति दृष्टविषय वितृष्णस्य दिव्यादिव्य विषय सम्प्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोष दर्शिनः। प्रसङ्ख्यानबलदिना मोगात्मिका हेयोपादेय शून्या वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात् रूप, रस, गंध, स्त्री, अन्न-पान, विषय और स्वधर्म वैदेध्य प्रकृतिलयादि अदृष्ट विषय चाहे कितने ही दिव्यादिव्य विषय हों, प्रसंख्यान बल से विषय दोषदर्शी चित्त हेययो-पादेय शून्यानाँ भोगात्मिका स्थिति ही वशीकार संज्ञा वैराग्य वाली हुआ करती है। इस बात को यों समझ लेना चाहिये। विषय दो प्रकार के होते हैं—

१. दृष्ट विषय।

२. आनुश्रविक विषय।

दृष्ट विषय वे हैं जो इस लोक में रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श, स्त्री, अन्न-पान, ऐवर्श्य इत्यादि इन विषयों को मनुष्य सामान्य रूप से प्राप्त करता ही है।

अर्थात् मनुष्य लोक में जन्म लेने वाले हर प्राणी के लिये अपने-अपने पुण्य कर्म, विपाक के अनुसार साधारण रूप से यह सभी को उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त आनुश्रविक विषय वे हैं जिनकी हम शास्त्रों से जानते और सुनते हैं। उनमें भी दो प्रकार हैं—

एक वह हैं जिसको हम शरीरान्तर वेद्य कह सकते हैं अर्थात् जब हमारा कोई शरीर देवलोकादि में बनेगा तभी उन विषयों का ज्ञान हमें हो सकेगा। जैसे जो स्वर्ग आदि प्राप्त करते हैं या विदेह और प्रकृतिलीन योगियों को प्राप्त होते हैं। इन विषयों को शरीरान्तर वेद्य कहा है और इसके अतिरिक्त दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श एवं दिव्य शब्दों का अनुभव होना ये रूप विषय अवस्थान्तर वेद्य कहलाते हैं। इसी प्रकार से योग-दर्शन के विभूतिपाद में कही हुई सभी सिद्धियाँ जैसे- 'बलेषु हस्ति बलादिनी' आदि सब विषय अवस्थान्तर वेद्य हैं। इन दोनों प्रकार के दिव्य अदिव्य विषयों की उपस्थिति में जब चित्त ज्ञान के बल से इनमें दोष देखता है, दोष देख करके इनको ग्रहण नहीं करता और न परे हटाने का प्रयत्न करता है। क्योंकि उस योगी के चित्त में इसके प्रति न राग है और न द्वेष है। राग हो तो ग्रहण करने की कोशिश करें और द्वेष हो तो इसे परे हटाने की कोशिश करें। ऐसी स्थिति में जो हेयोपदेय शून्य स्थिति है, उसी को वशीकार संज्ञा वैराग्य करते हैं। वस्तुतः—

विकारहेतौ सति विक्रियते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

अर्थात् जिनके चित्त विकार के हेतु स्त्री, अन्नपान आदि के उपस्थित होने पर भी विकृत नहीं होते वही पुरुष धीर है। इस प्रकार उनका चित्त एकरस बना रहता है। चित्त की इसी प्रकार की स्थिति ही वशीकार संज्ञा कहलाती है। हमारे शास्त्रों में इस वशीकार वैराग्य को अपर-वैराग्य माना है। पर-वैराग्य इससे भी ऊँचा है, जिसका वर्णन आगे के लेख में किया जायेगा। विषयों में राग का न होना ही वैराग्य का कारण नहीं है, क्योंकि कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि जो लोग तीव्र रोग आदि से पीड़ित हो जाते हैं, उनका भी विषयों में राग नहीं रहता और विषयों से अरुचि हो जाती है। इसका नाम वैराग्य नहीं है और न ऐसे वैराग्य से योग सिद्ध होता है। कदाचित् किसी व्यक्ति को विषय उपलब्ध ही न हों और वह कह दे, नहीं जी! हम तो विरक्त हैं तो उनकी विरक्तता कोई महत्व नहीं रखती, क्योंकि उनको वह वस्तु उपलब्ध ही नहीं या वस्तु उपलब्ध होने पर जिनको इन्द्रिय शक्ति क्षीण हो चुकी है, ऐसी स्थिति में कोई कहे कि हम विरक्त हैं तो यह भी उनका कहना गलत है, क्योंकि उनके अन्दर विषय भोग की सामर्थ्य नहीं है तो वे लोग क्या भोग भोगेंगे। वस्तुतः तो देखे और सुने हुए विषयों में राग का प्रसंख्यान बल से उत्पन्न ही न होना वशीकार संज्ञा वैराग्य है। हमारे शास्त्रकारों ने इस अपर-वैराग्य को अलग-अलग चार विभागों में बाँट दिया है। जैसे—

(१) यतमान संज्ञा वैराग्य।

(२) व्यतिरेक संज्ञा वैराग्य।

(३) एकेन्द्रिय संज्ञा वैराग्य।

(४) वशीकार संज्ञा वैराग्य।

इन चारों को इस प्रकार समझ लेना चाहिए। जैसे–

(१) इन्द्रियों के विषय अपने-अपने रागों में मनुष्य को प्रवृत्त करते हैं। ज्योंही वासनिक भोग सामने उपस्थित हुए योगी उससे बचने की चेष्टा करता है। अपने चित्त पर नियंत्रण करता है। इसका नाम यतमान संज्ञा वैराग्य है।

(२) ऐसा प्रयत्न करने पर जब योगी यह देखता है कि मैंने अमुक-अमुक विषयों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है और इन-इन विषयों को प्राप्त करना शेष है, ऐसे वैराग्य को व्यतिरेक संज्ञा वैराग्य कहते हैं।

(३) कदाचित् अभ्यास बल से या अन्तरानुभूति के बल से जब-जब राग-द्वेष आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों में प्रवृत्त करने में तो असमर्थ हो जाते हैं, किन्तु मन में सूक्ष्म रूप से टिके रहते हैं। इस प्रकार की संज्ञा का जो योगी है किसी विषम अवसर पर दिव्य विषय ज्यों ही उसे प्राप्त होते हैं तो उसका मन क्षुभित हो सकता है। ऐसे वैराग्य को ऐकेन्द्रिय संज्ञा वैराग्य कहा गया है।

(४) इससे भी उत्तम राग की सूक्ष्म रूप से निवृत्ति हो जाती है और दिव्यादिव्य विषय उपस्थित होने पर भी बराबर उपेक्षा वृत्ति बनी रहती है। यह वैराग्य की तीनों अवस्थाओं का वैराग्य निरोध का कारण नहीं बनता। निरोध का कारण चतुर्थ भूमि वाला वशीकरण संज्ञक वैराग्य ही है। इसलिये इस वैराग्य का निरोध के साधनों में वर्णन किया गया है। किन्तु यह अवस्था योगी को वैराग्य की पहली तीन भूमियों को लाँघ करके ही प्राप्त होती है। सहसा प्राप्त नहीं होती। ज्यों-ज्यों मनुष्य का अपर-वैराग्य सिद्ध स्थिति में आता है, त्यों-त्यों मनुष्य पर-वैराग्य की ओर अपना कदम बढ़ाता चला जाता है। पर-वैराग्य में ही मनुष्य की रस प्रवृत्ति पूर्णरूपेण हट पाती है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः।
रस वर्जं रसोऽप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते।।

—गीता २/५९

अर्थात् निराहार व्यक्ति जब अपने रसादि विषयों से दूर रहता है तो उसकी वासनाएँ मन से हट जाती हैं, किन्तु रस की भावना नष्ट नहीं होती। उसकी रस की भावना पर दर्शन के बाद ही हट पाती है। जब मनुष्य को पर-दर्शन होता है तो उसकी चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। एक प्रकार से वह अपनी स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और अपने स्वरूप का दृष्टा बन जाता है। निरोध स्थिति ही योगी की स्वरूप स्थिति है, जिसके लिए योग-दर्शन खोलकर कहता है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

अर्थात्—

तदा तस्मिन स्थितै द्रष्टुः जीवात्मनः स्वरूपेऽवस्थानम् तदानीम् स्वरूप प्रतिष्ठा तावत् कीदृशी यथा चितिशक्तिर्भवत्ति कैवल्यो।

अर्थात् जैसे चेतन-शक्ति केवली भाव को प्राप्त होने पर हुआ करती है, उस समय आत्मा बुद्धि बौध को छोड़ अपने स्वरूप में ठहर जाता है, इसी को स्वरूप प्रतिष्ठा कहा गया है एवं इसी को श्री पतञ्जलिदेव जी ने पर-वैराग्य के रूप में वर्णित किया है।

यथा :—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्णयम्।

इस सूत्र पर भाष्य करते हुए भगवान व्यासदेव जी महाराज इस प्रकार पंक्तियाँ लिखते हैं—

दृष्टानुश्रविक विषय दोषदर्शी विरक्तः पुरुष दर्शनाभ्या-सच्चित शुद्धि प्रविवेकाप्यायित बुद्धिर्गविभ्यो व्यक्ताव्यक्त धर्मकिभ्यो विरक्त इति। तदृद्धयं वैराग्यं तत्रयतुत्तरं तद्ज्ञान प्रसादो मात्रं यस्योदये सतियोगी प्रत्युदित ख्यातिरेबं मन्यते प्राप्तं प्रायणीयं क्षीणा क्षेल्व्याः क्लेशाः छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्थैव पराकाष्ठा वैराग्यम् एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।

बुद्धिबोध आत्मा पुरुष ज्यों-ज्यों प्रसंख्यान की ओर चलता है, त्यों-त्यों उसका बुद्धिविवेक और निर्मल होता चला जाता है और धीरे-धीरे पुरुष-दर्शन के अभ्यास से अपने स्वरूप में अवस्थित होकर वह जिज्ञासु व्यक्ताव्यक्त कर्म वाले गुणों से भी विरक्त हो जाया करता है। इस प्रकार से वैराग्य दो प्रकार का माना गया है। अपर-वैराग्य का वर्णन पहले कर दिया गया है, जिसमें मनुष्य दृष्टानुश्रविक विषयों में दोषी बन जाता है, उस वैराग्य का नाम वशीकार संज्ञा है। किन्तु ज्यों-ज्यों साधक अपने अभ्यास को उत्तरोत्तर बढ़ाता चला जाता है और उसकी विवेक ख्याति प्लवन होकर निर्मल होती चली जाती है और उसका मन व्यक्ताव्यक्त गुणों से विरक्त हो जाया करता है, उसी वैराग्य पुरुष ख्यातिमात्र है और सर्वोकृष्ट है। इस वैराग्य के पैदा हो जाने पर प्रत्युत्ख्याति योगी इस प्रकार मानता है—

'प्राप्तं प्राप्तियमं' जो कुछ मुझे पाना था पा लिया। **'क्षीणाः क्षीतत्याः क्लेशाः'** नष्ट करने लायक क्लेश मैंने नष्ट कर दिये हैं। **'क्षितः क्लिष्टः भव संक्रमः'** शृंखला से जुड़ा हुआ भव संसार-चक्र मैंने नष्ट कर दिया है, नष्ट होने पर बार-बार जन्मना और मरना पड़ता था। इसी वैराग्य को मोक्ष का नाम तरीयक माना गया है।

अर्थात् यह वैराग्य मोक्ष ही है। इस स्थिति के अन्दर प्राप्त हुआ योगी केवमात्र बुद्धिबोध की अस्मिवृत्ति से ही अवशेष रहता है। ऐसे योगी की वृत्ति निर्माणोमुखी रहती है, इसी को ऋतम्भरा-प्रज्ञा कहते हैं।

ऋतं सत्यं विभर्ति या सा ऋतम्भराः।

यह वृत्ति सत्य को धारण करती हे, योगी अपने तेज के साथ **'अस्मि-अस्मि अहमेवा अस्मि'**। यह सब कुछ मैं ही हूँ, ऐसा अनुभव करता है। यहीं पर वैराग्य का अन्तिम परिणाम है। योगाभ्यास करने वाले साधक को ज्यों-ज्यों अन्तर्मुखता प्राप्त होती है त्यों-त्यों वह वशीकार संज्ञा वैराग्य को प्राप्त होता चला जाता है और ज्यों-ज्यों विवेक ख्याति की ओर आगे बढ़ता है त्यों-त्यों वह पर-वैराग्य को प्राप्त को जाता है और संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूट कर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, इसी का नाम कैवल्य है। पुरुष का बुद्धि-बोध को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना ही केवली भाव है। इसलिये योग के जिज्ञासु साधक को चाहिए कि वह अष्टाँग योग के नियमों का पालन करता हुआ अपने आपको पूर्ण विवेकवान बना दे, जिससे परम शान्ति लाभ हो।

आहार-शुद्धि और उसका परिणाम

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

यह निश्चित सिद्धान्त की चीज है—

आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि।

सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।।

अर्थात् आहार शुद्ध होने पर सतोगुण की शुद्धि और सतोगुण के होने पर निश्चित ही मनुष्य को समाधि प्राप्त होती है। इसलिये ध्रुवास्मृति के कायम रखने में अन्न एक बहुत ही विशेष सहायक वस्तु है। शास्त्रीय परिभाषा है—

यथा अन्नं तथा मनः।

अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार का अन्न सेवन करता है, उसी प्रकार का उसका मन बन जाया करता है। यही कारण है कि आज इस कलियुग के समय में ऊँचे-ऊँचे पदाधिकारियों को अपने काम कराने के लिये लोग बड़ी-बड़ी डालियाँ पेश करते हैं और अच्छे-अच्छे भोजन कराते हैं। यही सबब है कि वे लोग उनके आतिथ्य को पाकर प्रसन्न हो जाते हैं और उनके काम कर दिया करते हैं। महाभारत के उद्योग पर्व में नकुल, सहदेव के मामा महाराज शल्य अपने सम्बधिन्व के नाते पाण्डवों के मामा लगते थे और उस लड़ाई में उनको पाण्डवों की ही मदद करनी चाहिए थी और महाराजा शल्य आये भी पांडवों की ही मदद करने को थे, किन्तु रास्ते में ही धोखा देकर दुर्योधन ने उनका सत्कार किया कि वह कह उठे कि—

इष्टोऽर्थो गुह्यतामिति।।17

अर्थात् हे दुर्योधन! तुम अपना अभीप्सित वर माँगो। महाराज शल्य के ऐसा कहने पर दुर्योधन ने उनसे अपना सेनापति होने का ही वर माँगा व उनके भारी सैन्य-बल को अपनी ओर कर लिया। यह था **''यथा अन्नं तथा मनः''** का प्रभाव। आजकल के घोर कलिकाल में भी इस प्रकार की अनेकानेक घटनाएँ घटित होती रहती हैं। यही कारण है कि हमारे सनातन धर्म में, विवाहों में, शादियों में या अन्यान्य उत्सवों में सहभोज की प्रथा बहुत अधिक मात्रा में प्रचलित है। यह सहभोज एक-दूसरे के मनों को इकट्ठा कर देता है। प्रायः सनातन धर्म के सिद्धान्तों के मानने वाले तपस्वियों का, ब्राह्मणों का निमन्त्रण अपनी विनम्रतापूर्वक अपने घरों में किया करते हैं और यह भी चाहा करते हैं कि भोजनोपरान्त वह लोग उसको अपना अभीप्सित वरदान देकर जाएँ और जैसी जिसकी सामर्थ्य होती है, वे लोग वैसा आशीर्वाद देते भी हैं।

मनुष्य जैसा भोजन करता है अन्न का वैसा प्रभाव उसके मन पर अवश्य पड़ता है। इस विषय में मुझे आप-बीती एक छोटी सी घटना याद आती है, जिसका यहाँ उल्लेख करा देना आवश्यक समझता हूँ।

एक बार परम करुणार्णव मेरे गुरुदेव योगयोगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ऋषिकेश के श्री योग-साधन आश्रम में विराजमान थे। उस समय उसके पास एक जेल का दरोगा भेंट निमित्त कुछ मिठाई लेकर उपस्थित हुआ। वह मिठाई श्री प्रभुजी ने उससे रखवा तो ली, किन्तु बाँटने व खाने के लिए संकेत से सबको इन्कार कर दिया। लेकिन फिर भी किसी अपरिचित भाई ने वह मिठाई बाँट दी और प्रसाद रूप समझकर सभी साधकों ने उसे खा लिया। परिणाम यह निकला कि सभी के मन कलुषित हो गये तथा तीन-चार दिन के लिए सभी अपने नैतिक अभ्यास से बिल्कुल खाली हो गये। जिस समय सभी बहन-भाइयों ने प्रार्थना करते हुए श्री प्रभुजी से इसका कारण पूछा, तो उन्होंने बताया कि इन लोगों की दृष्टि गीध जैसी हुआ करती हैं। अतः इसकी कमाई का अन्न तुम सबको नहीं खाना चाहिये था। इसलिये सुश्रुत में ''आहार शुद्धौ, सत्त्व शुद्धि, सत्त्व शुद्धौ ध्रुवास्मृतिः'' कहकर मनुष्य के जीवन में आहार शुद्धि एक महत्वपूर्ण साधन है ऐसा निर्देश किया है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता के सत्रहवें अध्याय में तीन प्रकार के आहारों का वर्णन किया है और वे आहार सत्त्व प्रधान प्राणियों को, रज प्रधान प्राणियों को तथा तमोगुण प्रधान को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रिय होते हैं।

सतोगुण प्रधान मनुष्यों के आहार के बारे में कहा गया है—

आयु सत्त्वबलारोग्य,

सुख प्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्याः,

आहाराः सात्त्विक प्रियाः।।

—गीता १७/८

अर्थात् आयु वृद्धि करने वाला सत्त्व-वृद्धि करने वाले, बल को बढ़ाने वाले, आरोग्यता देने वाले, सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले, आरोग्यता देने वाले, सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले रसीले चिकने जिनकी शक्ति कायम रहने वाली है, जो हृदय को पुष्ट करने वाले हैं अर्थात् जो स्वभाव से ही रुचिकर हैं, ऐसे आहार सात्विक कहलाते हैं और यह सतोगुण प्रधान व्यक्तियों को ही अच्छे लगते हैं। जिन आहारों का लक्षण

जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने ऊपर के श्लोकों में किया है, वे सारे के सारे गुण गोघृत, दूध, मक्खन, मलाई आदि पेय पदार्थ, गेहूँ, जौ, चना या रसीले सेब, सन्तरा, अंजीर और मौसमी आदि फल, घीया, बथुआ, तोरई, चौलाई, पालक पत्ती के साग, मैथी इत्यादि और पवित्र कन्द-मूलों का आहार ये सब सात्विक आहार हैं। इनके सेवन करने से मन में सतोगुण का ही विकास होगा। बुद्धि पवित्र रहेगी और सतोगुण प्रधान को स्वभावत: यही गुण प्यारे भी लगेंगे।

रजोगुण प्रधान मनुष्यों के आहार का वर्णन इस प्रकार है—

कट्वम्ल लवणात्युष्ण-
तीक्ष्ण रूक्ष विदाहिन:।
आहारा राजस्येष्टा,
दु:ख शोकामय प्रदाय:।।

—गीता १७/९

अर्थात् कड़वे करेले आदि खट्टे आम की खटाई आदि, ज्यादा नमक वाले अत्यन्त गर्म जिनमें बहुत अधिक मिर्च पड़ी हो और रूखे व खुश्क तेज मिर्चों के पकौड़े आदि जो इसी प्रकार के शरीर में दर्द देने वाले, गर्मी पैदा करने वाले, दु:ख और चिन्ता को पैदा करने वाले इस प्रकार के भोजन रजोगुण को बढ़ाने वाले होते हैं, जी रजोगुण प्रधान व्यक्ति हैं, उन्हें ये सब भोजन प्रिय होते हैं। तथा

तमोगुण प्रधान मनुष्यों के आहार की चर्चा व्याख्याएँ की गई हैं—

यातयामं गतरसं पूर्ति,
पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं
भोजनं तामस प्रियम्।।

—गीता १७/१०

अर्थात् रसरहित दुर्गन्धयुक्त, बासी उच्छिष्ट एवं रसरहित भोजन तमोगुण का वड़ाने वाला है और तामस व्यक्तियों को ही वह प्रिय होता है। जैसे पहले दिन के बने हुए जिन पर से रात उतर चुकी है अज़ैर गतरस हो जाते है, ऐसे भोजन तम प्रधान होते हैं। जितने जिस-जिस स्वभाव के व्यक्ति संसार में रहते हैं, उनको उसी प्रकार का खान-पान, रहन-सहन प्रिय हुआ करता है। योगी के लिए सात्विक बन जाना बहुत ही आवश्यक है। जब तक उसके अन्दर सतोगुण ही वृद्धि नहीं होती तब तक वह परम लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा। इसके साथ एक बात का और ख्याल रखना आवश्यक है कि मन की शक्ति सब आहारों में परिवर्तन कर देती है। दूध, दही, फल, कन्दमूल, साग-सब्जी ये सब भोजन सात्विक हैं। किन्तु पाप-कमाई करने वाला ऐसे आहार खिलाता है तो उनमें उसके मन का असर रहा करता है। सुनते हैं ननकाना साहब में एक बार गुरु नानकदेव के सामने एक नवाब की ओर से घृत पकवान सुमधुर भोजन आया और दूसरी ओर से दो सूखी रोटी कोई किसान लेकर के आया।

गुरु नानकदेव ने वह रोटियाँ स्वीकार कर लीं। किन्तु वह भोजन स्वीकार नहीं किया। लोगों ने उनसे पूछ लिया क्या कारण है कि इतने पवित्र घी, दूध के भोजन की आपने त्याग दिया और सूखे जौ की रोटियों को आपने स्वीकार कर लिया। गुरु नानकदेव ने जवाब दिया, इन सूखी रोटियों में दूध है और इस घृत के भोजन में खून है तमोगुण है। इसलिये घृत के भोजन में खून है तमोगुण है। इसलिये ऐसा तमोगुण प्रधान भोजन मुझे रुचिकर नहीं था। यह कहकर उन्होंने पूड़ी उठाकर निचोड़ी तो पूड़ियों से खून व रोटियों से दूध गिरने लगा। लोगों ने इस चमत्कार को देखकर बड़ा आश्चर्य माना। इसलिये मनुष्य को चाहिए कि भोजन सात्विक करे व नेक कमाई का हो तो सोने में सुहागा। इसके अतिरिक्त भगवान ने गीता में यह भी कहा है—

युक्ताहार विहारस्य,
युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य,
योगो भवति दु:खहा।।

अर्थात् जिसका आहार-विहार युक्त हे, जिसका सोना व उठना युक्त है और जिसकी हर चेष्टा नियमित होती है, उनके लिए योग दु:खों का नाश करने वाला है। इसलिये सात्विकी आहार के साथ-साथ युक्ताहार विहार के नियमों का पालन करना आवश्यक है। मनुष्य को भोजन खूब चबाकर करना चाहिए, दूध को थोड़ा-थोड़ा करके पीना चाहिए, इससे, साधकों को यह अनुभव होता रहे कि चबाया हुआ भोजन पेट में पहुँचते ही हजम हो चुका है। आधा पेट भोजन करे, आधा जल से और चतुर्थ भाग वायु के लिये खाली रहने दे। इस प्रकार का आहार हर व्यक्ति के लिये पूर्ण लाभदायक है। इसका अर्थ यह नहीं समझना कि एक नौजवान जो शीर्षासन आदि करता रहता है, वह अपने आहार को इतना संयमित कर ले कि सहन-शक्ति से बाहर हो, इसका परिणाम भी अवश्य खराब निकलता है। ऐसे व्यक्तियों को भूखा नहीं रहना चाहिए न ही उपवास करना चाहिए। उपरोक्त नियम उन परमार्थ जिज्ञासुओं के लिये है जो हर समय स्वाध्यायशील हैं और समाहित चित्त हैं। नैत्यिक व्यायाम करने वाले नौ-जवानों के लिये उपयुक्त आहार करना व भूख को न मारना आवश्यक है।

योग-साधना में श्रद्धा का स्थान

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्रद्धा वह दैवी गुण है जो कि मनुष्य को परम कल्याण का भागी बना देता है।

योगमार्ग में श्रद्धा का विशेष महत्व है। योग-दर्शन के प्रणेता भगवान् श्री पतन्जलि जी ने समाधि प्राप्ति के विविध उपायों में श्रद्धा को प्रधानता दी है और कहा है—

श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधिप्रज्ञापूर्वकमितरेषाम्।

श्रद्धा से ही क्रमश: वीर्य, स्मृति और समाधिप्रज्ञा प्राप्त होती है। यह बात व्यास देव जी ने अपने भाष्य में सिद्ध की है जैसे-

तस्य हि श्रद्धधानस्य वीर्यमुपजायते, समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरूपतिष्ठतेस्मृति- रूपाष्ठानत्तरस्य चित्तमनाकुलं समाधीयते।

इस प्रकार श्रद्धा के बल पर साधारण सांसारिक व्यक्ति भी समाधि को प्राप्त कर लेता है। ईश्वर का स्वरूप ही श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसके लिए ईश्वर उसी रूप में प्रकट होता है। शास्त्रों द्वारा कहा गया है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुष: यो यच्छद्ध: स एव स:।

तथा—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनकी प्रगति का आधार श्रद्धा ही रही। इसके विपरीत जिन व्यक्तियों में श्रद्धा का अभाव रहता है वे सदैव शंकाग्रस्त रहते हैं और कुतर्कों के जाल में उलझकर अपना अमूल्य जीवन बिता डालते हैं। वे किसी प्रकार भी अपना आत्मोत्थान नहीं कर पाते। गीता में तीन प्रकार की श्रद्धा का उल्लेख किया गया है। सात्विककी, राजसी और तामसी।

सात्विकी श्रद्धा सम्पन्न व्यक्ति यदि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि यमों का तथा नियमों का तत्परता से पालन करता हुआ पवित्र योगमार्ग का अनुयायी बन जाये तो उसके परम कल्याण में कोई संदेह ही नहीं है। अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण का वचन है—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं,
तत्पर: संयतेन्द्रिय:।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति-
मचिरेणाधि गच्छति।।

अर्थात् श्रद्धालु तत्पपरतापूर्वक साधना में लगे रहने वाला एक संयमी व्यक्ति ही तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर पाता है, जिसे पाकर वह शीघ्र ही शाश्वत शान्ति को पा जाता है।

प्रात: स्मरणीय भगवान व्यासदेव जी महाराज ने श्रद्धा की परिभाषा व उसका फल बताते हुए कहा है—

श्रद्धा चेतस: सम्प्रसाद: सा हि कल्याणी जननीव योगिनं पाति।

अर्थात चित्त की प्रसन्नता ही श्रद्धा है वह कल्याण करने वाली होती है। योगी की माता की तरह वह रक्षा करती है। वास्तविक श्रद्धा वह है जहाँ क्यों, और कैसे का प्रश्न ही न उठे। सभी प्रकार के तर्क और शंकायें समाप्त हो जायें तथा अपने आराध्यदेव से प्रत्यक्ष से बढ़कर विश्वास होने लगे। श्रद्धा की पराकाष्ठा से ही आत्मसमर्पण होता है। यह आत्मसमर्पण ही ईश्वर प्रणिधान कहलाता है, जिसका फल भगवान पतञ्जलिदेव ने समाधि ही बतलाया है।

हमारे देश का इतिहास उन अनेकानेक भक्त आत्माओं की पावन गाथाओं से भरा हुआ है, जिन्होंने अपनी श्रद्धा के बल पर पत्थर में से भगवान को प्रकट कर दिया। गोस्वामी तुलसीदास जी की श्रद्धा ने भगवान को अपने कृष्ण रूप को हटाकर राम रूप में प्रकट होने को बाध्य कर दिया। एकलव्य ने अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा के कारण अपने गुरुदेव की मृण्मय प्रतिमा से ही धनुर्विद्या में वह दक्षता प्राप्त कर ली, जिसे कि अर्जुन भी प्राप्त न कर सका था। परम योगिनी मीराबाई की श्रद्धा ने माता की तरह रक्षा करते हुए उसे कुटुम्बीजनों द्वारा दी गई यातनाओं के कुप्रभाव से मुक्त रखा। इस प्रकार के और भी अनेकानेक उदाहरण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य अपनी श्रद्धा के सहारे हर प्रकार की मनुष्य अपनी श्रद्धा के सहारे हर प्रकार की बाधाओं को पार करता हुआ अपने उच्चतम् लक्ष्य को प्राप्त कर सकता हे और परम कल्याण का भागी बन सकता है।

अत: साधकों को चाहिये कि वे अपने आराध्य में और गुरुमन्त्र में अपने साध्य और साधन में पूर्ण श्रद्धा रखें। वह श्रद्धा ही कालांतर में उन्हें योगारूढ़ करा देगी।

अंत में अपनी विनोदमयी भाषा में महाराज जी ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया—

एक देवी ने श्रद्धापूर्वक किसी सिद्ध योगी से योग-दीक्षा प्राप्त की। गुरु-मन्त्र का पहला अक्षर 'स' था। वह महिला कुछ अशिक्षित थी, उसे पूरा मन्त्र तो याद नहीं रहा, 'सौ-सौ' का जाप करती रही, उसे धन की कामना थी। अत: मन्त्र जप के प्रभाव से उस दिन उसे सौ रुपये का लाभ हो गया। शाम के समय वह अपने गुरुदेव के चरणार्विन्दो में प्रस्तुत हुई और बोली, महाराज जी! आपने बड़ा अच्छा मन्त्र दिया, मैं दिन भर आपका दिया मन्त्र 'सौ-सौ' जपती रही, जिससे मुझे सौ रूपये का लाभ हो गया।

गुरुदेव उसकी श्रद्धा को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले देवी! यदि ऐसी बात है तो कल को 'दो-सौ' का जाप करना उस महिला ने वैसा ही किया और अतिशय श्रद्धा से 'दो-सौ' 'दो सौ' जपती रही और अगले दिन उसे 'दो-सौ' रुपये का लाभ हो गया। यह था उसकी श्रद्धा का परिणाम।

अगले दिन पुन: जब वह गुरुदेव के श्री चरणों में उपस्थित हुई तो उन्होंनें उसे लालच न करने की सलाह दी और मन्त्र का यथार्थ स्वरूप बतलाकर निष्काम भाव से मन्त्र का जप जपने की आज्ञा प्रदान की। यह कोई कहानी नहीं है बल्कि श्री प्रभुजी के चरणार्विन्दो से सम्बन्धित एक सच्ची घटना इस प्रकार है—

यं यं चिन्तयते कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम्।

वाला सिद्धान्त श्रद्धावान व्यक्ति पर अवश्य लागू होगा। अत: कल्याणकामी व्यक्ति को श्रद्धालु एवं साधनपरायण बने रहना चाहिये। योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने योग की अपार महिमा बताते हुए अपने सखा अर्जुन को जहाँ योगी बनने की सलाह दी। यह भी स्पष्ट कर दिया कि श्रद्धावान् योगी ही मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। जैसे–

तपस्विभ्यऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन।।
योगिनामपि सर्वेषां,
मङ्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां,
स मे युक्ततमो मत:।।

अर्थात् तपस्वियों से योगी का दर्जा ऊँचा है। ज्ञानियों से योगी श्रेष्ठ हैं और कर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है। इसलिये है अर्जुन! तू योगी बन।

योगियों में भी वह श्रद्धावान् योगी जो मुझे हृदय में धारण करके अत्यन्त श्रद्धा से निरन्तर मुझ परमेश्वर को भजता है वह योगी मुझे अत्यधिक प्रिय है।

सर्वे भवन्तु सुखिन:,
सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मां कश्चिद् दु:ख भाग्भवेत्।।

साधना में सहायक

प्रथम अवस्था में थोड़ा एकान्त में बैठकर मन को स्थिर करना चाहिए, नहीं तो इधर उधर बहुत कुछ देख सुनकर मन चंचल हो जाता है। दूध को यदि पानी में मिलाओ, तो वह पानी में बिल्कुल मिल जाता है, परन्तु दूध को एकान्त में जमाकर, दही बनाकर, उसे मथ कर यदि मक्खन निकाल लिया जाय, तो फिर वह पानी के साथ नहीं मिलकर, पानी के ऊपर तैरता रहता है। इसी प्रकार, जिनका मन स्थिर हो चुका है, वह कहीं बैठकर सदा ईश्वर का चिन्तन कर सकते हैं।

— रामकृष्ण परमहंस

संयम से भुवन ज्ञान

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योगी को यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए संयम के बल की आवश्यकता रहती है। और संयम समाधि के दृढ़तर अभ्यास से ही सिद्ध होता है।

समाधि की उत्कृष्ट स्थिति को ही संयम कहा जा सकता है। संयम की परिभाषा लिखते हुए श्री पतञ्जलिदेव ने **'त्रयमेकत्रसंयमः'** कहकर के संयम की परिभाषा को समझाया है। अर्थात् योगी का मन धारणा, ध्यान, समाधि तीनों में एक विषयक रहे यानी व्यवधान रहित रहे तब योगी की लगाई हुई समाधि ही संयम का रूप धारण कर लेती है। फिर उस योगी का मन इतना संयमित बन जाता है कि वह जब जहां अपने मन को लगाना चाहेगा, लगा देगा और परिणाम स्वरूप तब वह उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लेगा। सूक्ष्म व्यवहित एवं **'विप्रकृष्ट'** ज्ञान के बाद भगवान पतञ्जलिदेव **'भुवनज्ञान'** का उपदेश करते हैं।

श्री पतञ्जलि जी ने लिखा है 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' अर्थात् सूर्य में संयम करने से योगी को अनायास ही सारे भुवनों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। देखना चक्षु का विषय है। मनुष्य की आँखों में रोशनी होती है तो वह स्थूलरूप की सब वस्तुओं को देख ही सकता है पर जिसकी आँखों में रोशनी ही न हो तो वह देखेगा ही क्या! योगी को दूरदर्शन, आदि की शक्ति तप के द्वारा उपलब्ध हो जाया करती है किन्तु दूर-दर्शन, दूर-स्पर्शन भी तभी हो सकता है जब कि योगी के अन्दर दृक् शक्ति एवं स्पर्शन शक्ति बनी हुई हो। स्पर्शन के मौजूद रहने पर ही योगी दिव्य देवलोकों तक का स्पर्शन कर सकता है। यदि वह शक्ति योगी के अन्दर नहीं है तो वह शक्ति का विकास नहीं कर सकता। बीज से ही वृय बनता है। योगी अपनी आँखों से थोड़ी दूर तक के विषयों को देख सकता है किन्तु यदि उसकी आँखों पर खुर्दबीन या दूरबीन का चश्मा चढ़ा दिया जाये तो वह कई-कई मील की दूरी तक देख सकता है। सूर्य अग्नि तत्व का केन्द्र है योगी जिस समय अपनी दृक्शक्ति को अर्थात् अपनी आँखों की शक्ति को सूर्य तेज से मिला देगा तो भुवन मात्र के सभी दृश्यों को भली प्रकार से देख लेगा, क्योंकि योगी को आँख की शक्ति अब परिमित नहीं अपितु वह एक अपरिमित शक्ति से मिलकर अपरिमित हो गई है। अतः भुवन-मात्र में जहाँ-जहाँ सूर्य की रश्मियाँ पहुँचेगी वहाँ-वहाँ के ज्ञान को योगी अवश्य ही प्राप्त कर लेगा। अब रही बात यह कि हर साधक संयम के अर्थ को भली प्रकार से समझता भी है या नहीं? सूर्य में संयम करने से भुवन-ज्ञान प्राप्त तो अवश्य ही हो जाता है। बशर्ते योगी को सूर्य में संयम करने की विधि का ज्ञान यथार्थ में हो, कितने ही लोग तो संयम के अर्थ को शक्ति रोकना मात्र ही समझते हैं और किसी से बिना पूछे बिना सोचे-समझ दैदीप्यमान सूर्य मण्डल के अन्दर त्राटक की विधि से देखना आरम्भ कर देते हैं। और थोड़े ही दिनों में परिणाम इस दुष्परिणाम के रूप में सामने आ जाता है कि वे नेत्र शक्ति से खाली हो बैठते हैं। बीज से वृक्ष की बनाया जा सकता है किन्तु यदि बीज को पहले ही आगे में भून दिया जाये तो वृक्ष तो बनना दूर रहा वह बीज ही नष्ट हो जावेगा। पिछले दिनों चण्डीगढ़ में जिस समय हिन्दी आन्दोलन शुरू हुआ उस आन्दोलन में एक व्यक्ति ने विधानसभवन के सामने बैठ कर के सूर्य की त्राटक विधि से देखना आरम्भ कर दिया। जब कोई पूछता 'क्या कर रहे हो' तो वह कहता है कि मैं सूर्य में संयम कर के सारे भुवन को एक साथ देखने की ताकत पैदा कर रहा हूँ किन्तु तीन दिन के अन्दर ही किसकी साधना का दुष्परिणाम सामने गया और वह मनुष्य नेत्र की ज्योति से रहित हो गया। वस्तुतः संयम इस विधि का नाम नहीं। योगियों का सूर्य, नाभिमण्डल में बास करता है। योग-विधि से उसी सूर्य में संयम करने से योगी को भुवन-ज्ञान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार कायव्यूह में संयम करने से योगी को कायव्यूह का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। श्री व्यासदेव जी ने इस सूत्र पर बहुत बड़ा भाष्य लिखा है जिसमें बहुत से लोकों का वर्णन किया है। जिस समय योगी सूर्य में संयम करता है तो भुवन-ज्ञान के साथ उन सभी लोकों को भी देख डालता है। श्री व्यासदेव जी का यह भाष्य पाठकों के हितार्थ ज्यों का त्यों यहाँ उद्घृत कर उसके अर्थ को संक्षेपत हम नीचे लिख रहे हैं, इसको पढ़कर साधक यह समझ सकेंगे कि सूर्य में संयम करने से भुवन-ज्ञान की कितनी बड़ी शक्ति योगी को प्राप्त हो जाया करती है।

व्यास भाष्य—

तत्प्रस्तारः सप्त लोकाः। तत्राबीचेः प्रभुति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोकः। मेरुपृष्ठादारभ्त आध्रवात् ग्रहनक्षत्र तारा विचित्रोऽन्तरिक्षलोकः। ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः। चतुर्थ प्राजापत्यो महर्लोकः। त्रिविधो ब्राह्मः। तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति।

ब्रह्मस्त्रिभूमिको लोकः,

प्राजापत्यस्ततो महान्।

माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो,

दिवि तारा भुवि प्रजाः।।

इति।।

संग्रहश्लोकः। तत्राबीचेरुपर्य्यु- परि निविष्टाः षण्म- हानरकभूमयो धन- सलिला-नलानिलाकाशतमः प्रतिष्ठाः महाकालाम्बरी-षरौरवकालसूत्रान्धता-मिस्राः। यत्र स्वकर्म्मो- पार्ज्जितदुःख वेदनाः प्राणिनः कष्टमायुदीर्घ-माक्षिप्य जायन्ते ततो महातलरसातलातल-सुतलवितलातलपातालख्यानि सप्त- पातालानि भूमिरियष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः। तस्य राजत वैदूर्य्यस्फटिक- हेममणियानि श्रृङ्गाणि। तत्र वैदूर्य्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः श्वेतः पूर्वः स्वछः पश्चिमः कुरुरण्टकाभ उत्तरः। दक्षिण पाश्वैं चास्य जम्बूर्येतोऽयं जम्बूद्वीपः। तस्य सूर्य्यप्रचाराद्रात्रिन्दिवं लग्नमिव वर्त्तते। तस्य नीलश्वेत श्रृंगवन्त उदीचीनास्त्रः पर्वताः द्विसहस्रयामाः। तदन्तरेषु त्रीणि पर्याणि नवनव योजनसाहस्त्राणि रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति। निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रयामाः। तदन्तरेषुत्रीणि वर्षाणि नवनव यौजनसहस्राणि हरिवर्षं किं पुरुषं भारतमिति सुमेरोः प्राचीना भद्राश्च माल्यवत्सीमानः प्रतीचीनाः केतु- मालागन्धमादनसीमानः। मध्येवर्ष मिलावृतम्। तदेतद्योजन- शतसहस्रं सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धे न व्यूढम्।

स खल्वयं शतसाहस्रयामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना बलयाकृतिना वेष्टितः ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाकुशक्रौंचशाल्मलगोमेद (प्लक्ष) पुष्कारद्वीपाः समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावत्सा इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्ड क्षीरस्वादूदर्काः सप्तसमुद्रपरिवेष्ठिता वलयाकृतयो लोका- लोकपव्वर्त परिवाराः पञ्चाशद्यो-जनकोटिपरिसख्याताः तदेतत् सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्था- नमराडमधययो व्यूढम्। अराडञ्च प्र- धानास्याणुखयबो यथाकाशे खद्योत इति।

तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुर- गन्धर्वकिन्नरम्पिुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरौ ब्रह्मराक्षसकृष्माराडविनायकाः प्रति वसन्ति। सर्वेषुदीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः।

सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि। सुधर्मा देवसभा। सुर्दशनं पुरम्। वैजयन्तः प्रासादः। ग्रहनक्षत्रतारकास्ततु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेप- नियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्यपरि सन्निविष्टा दिवि वि- परिवर्त्तन्ते।

माहेन्द्रनिवासिनाः षट्देवनिकायाः त्रिदशा अग्निष्वाता याभ्यास्तुषिता परिनिर्मित वशवर्तिनश्चेति। सर्वे सङ्कल्पसिद्धा अणिमाद्येश्वर्य्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्स रोभिः कृतपरिचाराः।

महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधोदेवनिकायः कुमुदा ऋभवः प्रतर्दना अञ्जनाभाः प्रतिंताभा इति। एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति। ते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः।

द्वितीय तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः आभास्वरा महाभास्वरा सत्य महाभास्वरा इति। ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वम- प्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वतावृतज्ञानविषयाः। तृतीये ब्रह्मणः सत्य लोके चत्वारो देवनिकाया अकृतभवनन्यासः स्वप्रतिष्ठा उपार्युपस्थिताः प्रधानवशिनो यावत् सर्गायुषः।

तत्राच्युताः सवितर्कध्यान सुखाः, शुद्धनिवासाः सविधार- ध्यानसुखाः सत्यभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः सज्ञासविज्ञ श्चास्मितामात्रध्यानसुखाः तेऽपि त्रैलोक्य मध्ये प्रतितिष्ठान्तिए एते सप्तलोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः। विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्त्तन्त इति न लोक मध्ये न्यस्ता इति। एतद्योगिना साक्षात्कर्त्तव्य सूर्य्यद्वारे संयम कृत्वा ततोऽन्यत्रापि एवं तावदम्भयसेद्यावदिंद सर्व दृष्टमिति।

अर्थात— भुवन का विस्तार सात लोकों का समूह है। उसमें अवीची से मेरुपृष्ठ तक भूलोक कहलाता है। मेरुपृष्ठ से ध्रुव पर्यन्त तक ग्रह नक्षत्र एवं तारागण से चित्रित अन्तरिक्ष लोक हैं। उसमें आगे पांच प्रकार के स्वर्लोक हैं। उन पांच प्रकारों में प्रथम भूलोक से तृतीय महेन्द्रलोक हैं चतुर्थ प्राजापत्य महर्लोक हैं। उसके बाद तीन प्रकार का ब्रह्मलोक है। उनके नीचे महर्लोक, माहेन्द्र स्वर्लोक के नाम से कहा जाता है। उसके नीचे तारागणों से मुक्त द्युलोक एवं उनके नीचे भूलोक है। उनमें अवीची के ऊपर क्रमशः छः नरक भूमियां बताई गई हैं। वे धन, सलिल, अनल अनिल, आकाश तथा तल में ठहरी हुई हैं। उनके नाम क्रमशः महाकाल, अम्थरीष, रौरव महारौंरव, कालसूत्र, एवं अन्धतामिश्रय हैं। जहाँ अपने कर्मानुसार जीवगण दुःख योनी महाकष्ट दीर्घायु लेकर भोगते हैं। उसके बाद महाकाल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल नामक सात पाताल हैं। सप्तद्वीप वाली यह पृथ्वी अष्टम है। काञ्चन पर्वतराज, सुमेरु इसी के भीतर है। उसके बाद राजत, बैदूर्य, स्फटिक एवं हेममणि युक्त श्रृंग-समूह हैं। उनमें से वैदूर्य प्रभा से रञ्जित होने से कारण आकाश का दक्षिणी भाग नीलोत्पल के समान श्याम है।

पूर्व भाग श्वेत तथा पश्चिम भाग स्वच्छ है और उत्तर भाग स्वर्णाभ है। इसके दक्षिण कक्ष में जम्बू हैं, उसी से इसका नाम जम्बूद्वीप कहलाता है। सुमेरु पर्वत के चारों ओर सूर्य के निरन्तर भ्रमण करने के कारण वहाँ दिन और रात निरन्तर लगे से दिखाई देते हैं। अर्थात् सूर्य जिस तरु बढ़ता है उस तरफ दिन और जिस तरफ से बढ़ता है उस तरफ दिन और जिस तरफ से निकलता हुआ चला आता है, उस तरफ रात दिखाई देती है। सुमेरु की उत्तर दिशा में दो हजार योजन विस्तार वाले नीले श्वेत, तथा श्रृंगवल नामक तीन पर्वत हैं उन के भीतर रमणक हिरण्यमय और उत्तर कुरु नामक तीन वर्ष हैं। उनका विस्तार नौ-नौ हजार योजन है। दक्षिण दिशा में दो हजार योजन विस्तार वाले निषिद हेमपूवं तथा हिमशैल हैं। उनके अन्दर नौ-नौ हजार योजन वाले हरिवर्ष किमपुरुष वर्ष तथा भारत वर्ष नाम के तीन वर्ष हैं। सुमेरु के पूर्व भाग में माल्यवान तक भद्राश्च तथा पश्चिम में गन्ध मादक तक केतुमाल हैं। उनमें इलावृत्त वर्ष है। जम्बूद्वीप का परिणाम सौ हजार योजन है। वह सुमेरु पर्वत के चारों ओर पचास हजार योजन तक फैला है। इस प्रकार से सौ हजार योजन जम्बूद्वीप और इससे दूने गोलाकार लवणों दधि से घिरा है। इसके बाद क्रमश: शाक, कुश, कोञ्च, शाल्मल, मलञ और पुष्कर द्वीप हैं। इनमें से प्रत्येक ही पहले की अपेक्षा से दुगना सप्तसमुद्र सर्पो के घेर के समान विचित्र शैल मण्डित हैं, जिनके नाम लवण समुद्र के अतिरिक्त इक्षुरस, सुरा, घृत दधि, मण्ड, और दूध जैसे स्वादिष्ट पानी वाले हैं। पचास करोड़ योजन गोलाकार सप्तद्वीप लोक पर्यन्त समुद्र घिरे हैं। यह सब अण्ड भी प्रधान प्रकृति का अणु अवयव है, जैसे आकाश में खद्योत हुआ करते हैं। इस सब पाताल में जलधि में एवं इन सब पाताल में जलधि में एवं इन सब पर्वतों में आसुर, गंधर्व, किन्नर किं पुरुष, यक्ष, राक्षस भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मार, अप्सरा, ब्रह्म राक्षस, कुष्माण्ड तथा विनायक रूप देव योनियों के समूह बसते हैं। तथा अन्य द्वीप समूह में पुण्यात्मा देवता, एवं मनुष्यगण निवास करते हैं। सुमेरु देवताओं की उद्यान भूमि है वहाँ मिश्रवन, नन्दन वन, चैत्ररथ और सुमानस, ये चार उद्यान सुधर्मा नामक देव सभा सुदर्शनपुर तथा वैजयन्त नामक महाप्रसाद है। ग्रह, नक्षत्र एवं तारागणों के समूह धू के साथ सम्बन्ध होकर घूमते रहते हैं। महेन्द्र लोक निवासी देवगण छ: प्रकार के हैं। महेन्द्र लोक निवासी देवगण छ: प्रकार के हैं। उनमें त्रिदश अग्निष्पात याम्य तुषित अपरिनिर्मित वशवर्ती एवं परिनिर्मित वशवर्ती हैं। यह सभी लोग संकल्प सिद्धि अणिमादि ऐश्वर्य सम्पन्न कल्पायु पृज्य काम योगी औपपादिक देहधारी दिव्य अपसराओं से युक्त परिवार वाले हैं।

राजापत्य महर्लोक में देव निकाय पांच प्रकार के हैं। कुमुद ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जानाभ एवं प्रचिताभ, ये सब महाभूत वशीध्यान मात्र से ही तृप्त रहने वाले सहस्र कल्पायु हैं। जन नामक ब्रह्मा के प्रथम लोक में देव निकाय चार प्रकार के हैं। जिनमें से ब्रह्म पुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्म महाकायिक और अमर हैं। ये लोग भूतेन्द्रिय वशी एवं उत्तरोत्तर दुगनी आयु वाले हैं। ब्रह्मा के द्वितीय तपोलक में देव निकाय तीन प्रकार के हैं जैसे अभास्वर महा भास्वर, सत्यमहाभास्वर में लोग भूतेन्द्रिय तथा तन्मात्र वशी हैं। तथा उत्तरोत्तर दूगनी आयु वाले ध्यानाहारी ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वत्स्व एवं सत्यलोक में ज्ञान की सामर्थ्य रखते हैं। ब्रह्मा के तृतीय सत्य लोक में देव-निकाय चार प्रकार के हैं। उच्चुत, शुद्धनिवास, सत्याभसंङज्ञासंज्ञित ये लोग भवन शून्य स्वप्रतिष्ठ उत्तरोत्तर ऊपर रहने वाले और महाकल्पायु हैं। उनमें अच्चुत गण सवितर्क ध्यान सुख युक्त सत्याभरण आनन्दमात्र ध्यान सुख युक्त और संज्ञा संज्ञित गण अस्मिता मात्र ध्यान सुख युक्त हैं। ये सभी लोग त्रिलोक के अन्तर्गत हैं। ये सभी ब्रह्मलोक विदेह लय गण व प्रकृति लय गण वाले मोक्ष पद में हैं। ये लोग लोक में संलग्न नहीं माने जाते हैं। सूर्य द्वार में संयम करके योगी को इन सब का प्रत्यक्ष ज्ञान करना चाहिये इसके अतिरिक्त भी इससे ऊँचे लोकों का प्रत्यक्ष कर लेना चाहिये।

व्यास का पूरा-पूरा अर्थ प्राय: ऊपर लिख दिया गया है। यद्यपि आजकल भूगोल के अनुसार जम्बूद्वीप और सुमेरु पर्वत का जो विस्तार लिखा है, उतना दिखलाई तो नहीं देता और नहीं इक्षुरस आदि के समुद्रों का पूरा-पूरा ज्ञान हो पाता है किन्तु इसमें कोई शंका भी नहीं कि भूतजयी, महाभूत, वशी, तन्मात्र-वशी, ऊर्ध्वरेंतस आदि जिन महायोगीयों का जिक्र किया गया है वे लोग अवश्य ही वितर्कानुगत समाधि सुखभागी आनन्दानुगत समाधि सुखभागी एवं अस्मितानुगत समाधि सुखभागी होने से महाकल्पान्त तक देहधारी एवं अजर अमर लोक हैं, भूतसंयमो, भूतवंशी एवं तन्मात्र-वशी योगी इन सभी को देखने की सामर्थ्य वाला होता है। इसलिए योगाभ्यास के अभ्यासी साधक को चाहिये कि वह अभ्यास परायण हो करके सुषुम्ना का साक्षात्कार करके सुषुम्ना द्वार से ही सूर्य में संयम करना सीखे एवं पूर्णरूपेण भुवन ज्ञान को प्राप्त करें जो भाव व्यास भाष्य में दिखला दिया गया है, उससे भी अतिरिक्त परमात्मा की अनन्त सृष्टि को एवं ईश्वर के ऐश्वर्य को पूर्णरूपेण देख डाले जिससे कि वह कभी भी अपने अमरपद से विचलित न हो सके।

शिव और रुद्र

सृष्टि का विस्तार करने वाले परमेश्वर के प्रति मनुष्य जाति का जो आदर कृतज्ञता और प्रेम प्रतीत हुआ, उसी का मूर्तिमान रूप भगवान विष्णु है। उसी सृष्टि का विनाश करने वाले प्रलयंकारी देवता के प्रति जो भीति प्रतीत होती है, उसी का मूर्तिमान रूप रुद्र हैं। संक्षेप में सृष्टि संचालन शक्ति को विष्णु नारायण वासुदेव कृष्ण कहा गया है एवं सृष्ठि संहारक शक्ति को रुद्र कहा गया है। वेदों में व्याधि-जनित उत्पात निर्माण करने वाले देवता रुद्र हैं। उत्पातों का शमन करने वाले देवता को शिव कहा गया है। इस प्रकार रुद्र एवं शिव एक ही देवता के रौद्र एवं शान्त रूप हैं।

श्रुति-सार

अन्तर्मुखता का साधन मौन

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

अन्तर्विज्ञान के वेत्ता हमारे ऋषि-मुनियों ने अपने अनुभव के आधार पर लिखे अपने सद्ग्रन्थों में अपनी विविध प्रकार की साधनाओं का वर्णन किया है। सभी साधनाओं का लक्ष्य एक ही है कि साधक येन-केन उपायेन अन्तर्जगत में प्रवेश करे और वहाँ के अध्यात्म-दृश्यों को देखकर बाह्य-जगत के सम्बन्ध तोड़ ले। कठोपनिषद को तृतीय बल्ली में नचिकेता को उपदेश देते हुए यमराज ने सीधे और स्पष्ट शब्दों में यह आदेश दिया है—

पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूः,
तस्मात्पराङ् पश्यतिनान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्येगात्मानमैक्षत्,
आवृत्त चक्षुः अमृतत्वमिच्छन्।।

अर्थात् परमात्मा ने हमारी इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है इसलिए वे बाह्य-जगत में ही प्रवृत्त रहती हैं। अन्तर्जगत् में प्रवेश नहीं करतीं। अन्तर्जगत् में प्रवेश करने की इच्छा वाला कोई बिरला ही, साधक इनको अन्तर्जगत् की और मोड़ करके ही उस प्रत्यक् आत्मा को देख पाता है। इसलिए अन्तर्जगत में प्रवेश की इच्छा करने वाले हमारे आचार्य अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखता की ओर झुका करके ही शांति लाभ लेते हुए अमृत्व को पा सके। अखिलात्मा भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में—

'मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्'

कह करके मौन की महत्ता का संकेत किया है। गुह्य शब्द का यही अर्थ है, वे लोग जो अन्तर्निधि को प्राप्त कर चुके हैं। वही छुपे हुए हैं, गुह्य हैं, गुप्त हैं। उन लोगों की स्थिति समुद्रपान करके भी होंठ सूखे दिखलाने वाली है।

हमारे शास्त्रों में दो प्रकार के सिद्धों का वर्णन मिलता है। एक तो वे लोग हैं जो स्वतः सिद्ध हैं अर्थात् जो अनादिकाल से सिद्ध ही चले आते हैं। दूसरे वे हैं जिन्होंने साधना के बल पर सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। मौन भी अन्तमार्ग के साधकों की एक गुह्य साधना है जो उनके अन्तर्निधि की रक्षा करती है। हमारी अन्तर्जगत की शक्ति इन्द्रियों की बहिर्मुखता के द्वारा ही बाह्यजगत में प्रसारित होती है। इन्द्रियों का वेग इतना प्रबल होता है कि जिसके लिए अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण को अर्जुन को समझाते हुए यह शब्द कहने पड़े कि—

यततोऽपि कौन्तेय,
पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि,
हरन्ति प्रसमं मनः।।

अर्थात् हे अर्जुन! बड़े-बड़े बुद्धिमान व्यक्ति अपने मन को संभाले रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न करते हैं किन्तु इन्द्रियों का वेग इतना प्रबल है कि उन बुद्धिमान विद्वानों को भी पीस डालता है।

तानि सर्वाणि संयम्य,
युक्तासीत्मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि,
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

अर्थात् जो योगी उन सब पर नियंत्रण करके मेरी उपासना करता है और शनैः-शनैः अभ्यास के बल से इन्द्रियों को वश में कर लेता है वह प्रतिष्ठित बुद्धि वाला बन जाया करता है।

अतः बुद्धि के प्रतिष्ठान के लिए और वर्षों के लम्बे अभ्यास के द्वारा प्राप्त अन्तर्झंगत के ऐश्वर्य की रक्षा के लिए साधक को चाहिये कि वह अपनी जिह्वा पर नियंत्रण करे। मनुष्य के मन में यदि किसी के प्रति ईर्ष्या पैदा होती है तो वह अपने मन को उद्वेग को रोक नहीं पाता, प्रत्युत कटु शब्दों का उच्चारण करके उसको अभिशाप दे डालता है, जिसका परिणाम यह निकलता है कि साधक की अपनी शक्ति का क्षय तो होता ही है प्रत्युत दूसरे को भी भारी दण्ड मिल जाता है जिससे वह अनेक प्रकार की यातनाओं को भोगता है। जिसके फलस्वरूप श्राप के देने वाला स्वयं भी एक पाप को कमा लेता है और इससे उसकी अन्तर्साधना में भारी अन्तरायें उपस्थित हो जाती हैं। इस लिए साधक को चाहिये कि अपनी अन्तर्निधि की रक्षा के लिए मौन का अभ्यास करे एवं अपनी सहन शक्ति को बढ़ाये जिससे उसका अन्तर्विकास भी उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाये। उत्तम तो यही है कि योगी के मन में कि भी प्रकार का विकार ही पैदा न हो ऐसा तभी हो सकता है जब साधक एकान्त। स्थान में रह करके तप, स्वाध्याय, एवं योगाभ्यास के द्वारा अर्न्तप्रकाश को पैदा कर ले। जिससे हमें हर समय शान्ति आनन्द एवं प्रफुल्लता बनी रहे तभी उसके अन्दर मौन धारण करने की योग्यता भी आ सकती है, अन्यथा मौन भी मिथ्याचार का रूप धारण कर लेगा। श्रीमद्भगवद् गीता में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने अपने

मुखारविन्द से ऐसे लोगों को मिथ्याचारी कहा है जो कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण करके मन में उनके विषयों का चिन्तन करते रहते हैं यथा—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य,
य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान विमूढ़ात्मा,
मिथ्याचार: स उच्यते।।

इस लिए मनुष्य को मौन तो रहना चाहिये, किन्तु उसको अभ्यासशील होना भी बहुत आवश्यक है। अभ्यासशील साधु अपनी जिह्वा पर नियन्त्रण करके यदि मौन रहेगा तो उसका वह मौन भी उसकी अन्तर्मुखता का एक विशिष्ट साधन बन जायेगा, उसकी अन्तर्निधि भी बढ़ती चली जायेगी। एवं 'मौन चैवास्मि गुह्यानां' के अर्थ को वह भली प्रकार समझ जायेगा तब उसके मन में यह धारणा स्वभाविक बन जावेगी—

सर्वे भवन्तु सुखिन:,
सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मां कश्चिद् दु:खभागभवेत्।।

विचार-कण

जब तुम्हारे सामने कोई तुच्छ आसुरी प्रकृति का व्यवहार करे, तब उसकी नीचता को अपने निर्मल स्वभाव से ढक लो। ऐसा करने से तुम्हें ही सन्तोष होगा। बिना विचार कभी न बोलो, क्योंकि इससे बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं, और अविचारपूर्वक निष्क्रिय भी न रहो, क्योंकि इससे भी कहीं आलस्य, कहीं शक्ति का दुरूपयोग होता है। अपन का सामना करना पड़े, तब विनीत भाव से धैर्य पूर्वक उसे सहन करो।

देवताओं के निमंत्रण और योगी का कर्त्तव्य

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

भगवान पतञ्जलिदेव ने **''द्विविधो योग:''** कहकर योग के दो श्रेणियो में विभक्त कर दिया, यह संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात इन दो नामों से द्विविध है। इनमें संप्रज्ञात समाधि का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञात:।

अर्थात् वितर्कानुगत पहली विचारानुगत दूसरी श्रेणी, आनन्दानुगत तीसरी एवं अस्मितानुगत चौथी है।

यह श्रेणी संप्रज्ञात योग की है। संप्रज्ञात योग की इन चारों श्रेणियों में योगी किन-किन विषयों का कैसे-कैसे अनुभव करता है, इसका सांकेतिक रूप से विवरण श्री व्यासदेव जी ने इस प्रकार लिखा है—

वितर्क समाधि—

चित्तस्यालम्बेन स्थूल आभोग:

अर्थात् योगी जिस समय सवितर्क समापत्ति में संयम करता है उस समय उसको पंच महाभूतों के स्थूल स्वरूपों का साक्षात्कार होने लगता है। उसको सवितर्का समापत्ति कहते हैं। इस समाधि में स्थूल महाभूतों के साक्षात्कार में योगी के सामने भूमण्डल के दृश्य आते रहा करते हैं। जैसे पर्वतीय दृश्यों का आना, सुन्दर-सुन्दर नदियों एवं समुद्र आदि के दृश्यों का देखना, दहदहाती अग्नि एवं ज्वालाओं का देखना एवं विविध प्रकार के दिव्य रूपों का साक्षात्कार होना तेज चलती हुई वायु का अनुभव होना, इसी प्रकार आकाशादि का प्रत्यक्षीकरण, यह इस वितर्कानुगत योग का खास विषय रहता है। इस अनुभूति के बाद में आता है—

विचारानुगत योग—

इस विचारानुगत समाधि में योगी महाभूतों के सूक्ष्म रूपों का साक्षात्कार करता है। जैसे पृथ्वी का रूप गन्धतन्मात्र, जल का सूक्ष्म रूपरस तन्मात्र और अग्नि का सूक्ष्म रूप तन्मात्र वायु का सूक्ष्म रूप स्पर्शतन्मात्र और आकाश का सूक्ष्म रूप शब्द तन्मात्र आदि-आदि का योगी को साक्षात्कार होता है और इसके साथ ही साथ दिव्य देवलोक जो इस मनुष्य लोक की अपेक्षा सूक्ष्मरूप से अवस्थित है उस का साक्षात्कार भी योगी को हुआ करता रहा है। इसके बाद तीसरी श्रेणी—

आनन्दानुगत योग—

की है। इस समाधि में योगी हार्दिक आह्लाद को प्राप्त होकर आनन्द-विभोर रहा करता है। इस समाधि में योगी रोग, शोक तथा चिन्ताओं से रहित हो जाता है इसीलिए इस योग का नाम आनन्दानुगत तेज के अन्दर योगी आमोद के साथ भ्रमण करता है। इसी समाधि का अभ्यास करते-करते योगी अस्मितानुगत योग में प्रवेश कर जाता है। और उसके बाद वह योगी अपने आप को उस परम चित सत्ता के अन्दर विलीन देखता है। इसी का नाम अस्मितानुगत समाधि एवं अस्मितानुगतयोग है। अस्मिता का लक्षण भगवान पतञ्जलिदेव ने इस प्रकार लिखा है—

दृग्दर्शनशक्तयो रेकात्मतेवास्मिता।

अर्थात् दृग्शक्ति और दर्शनशक्ति (दृगशक्ति जीवात्मा, दर्शन शक्ति बुद्धि) यह जब दोनों एक रूप में भाषित होती हैं उसी का नाम अस्मिता है। इसी को जड़ और चेतन की गांठ कहा करते हैं। इस योग में विवेक-ख्याति को प्राप्त हुई बुद्धि अस्मि-अस्मि इस प्रत्यय के द्वारा आत्माकार से भाषित होती रहती है। यही संप्रज्ञात् योग की चार श्रेणियाँ हैं। इन में से जिस समय योगी संप्रज्ञात् योग की दूसरी श्रेणी विचारानुगत योग में प्रवेश करता है एवं इसको दिव्यलोक के साक्षात्कार होने लगते हैं तो योगी की अन्त:करण की शुद्धि और उत्कृष्ट स्थिति को देखकर तत्तत देव लोकों के स्थानाभिमानी देवता इस योगी का आदर करते हैं। एवं अपने अपने लोकों में ले आने को निमन्त्रित करते हैं। उस योगी का उस समय क्या कर्तव्य होना चाहिये इसका पूरा-पूरा निर्देश भगवान पतञ्जलिदेव ने अपने निम्नांकित सूत्र में किया है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मया-
करणं पुनरनिष्ट प्रसंगात्।

अर्थात् जिस समय इसके आत्मोत्थान को देखकर के स्थानानभिमानी देवता योगी का निमंत्रण करें तो उनके प्रलोभन में नहीं आना चाहिये एवं न ही किसी प्रकार का अभिमान करना चाहिये। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यासदेव ने सभी बातों का स्पष्टीकरण करते हुए योगी को क्या शिक्षा दी यह सब पढ़िये व्यासदेव के भाष्य की पंक्तियों में—

चत्वार: खल्वमी योगिन: प्रथम कल्पिक:, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति:, अति-क्रान्त भावनीयश्चेति, तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्र ज्योति: प्रथम:, ऋतम्भर प्रज्ञो द्वितीय:, भूतेन्द्रजयी तृतीय: सर्वेषु भवितेषु भावनीयेषु कृतरसासन्ध: कृतकर्तव्यसाधनादिमान्, चतुर्थी यस्त्वतिक्रान्त भावनीयस्तस्य चित्त प्रितिसर्ग एकोऽर्थ:

सप्तविधास्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा, तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भोइहास्यतामिह रम्यतां, कमनीऽयोयं भोगः कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्यु बाधते। वैहायसमिदं यानम् अमी कल्पद्रुमा, पुण्या मंदाकिनी, सिद्धाः महर्षयः, उत्तम अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी बज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितामायुष्मता, प्रतिपद्यतामिद-मक्षयमजरममर स्थानं देवानाँ प्रियमिति, एवमविधीयमानः संङ्गदोषात् भावयेद् घोरेषु संसारागारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्त्तमानेन कथञ्चिदासादितः क्लेश-तिमिर विनाशो योगप्रदीपः तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिक्षाः। सखल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्नानमिन्धनी-कुर्य्यामिति। स्वस्तिवः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजन प्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्यः इत्येनङ्निश्चितमतिः समाधिम्भावयेत्। संगमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यात्। एवमहं देवानागपि प्रार्थनीय इति। स्मयादयं सुस्थितं मन्यतयामृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति। तथा चास्य छिद्रान्तर प्रेक्षीनित्यं यत्नो पचर्य्यः प्रमादोलब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति ततः पुनरनिष्ट प्रसङ्गः। एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भार्वितोऽर्थो दृढ़ो भविष्यति। भावनीयश्चार्थोऽभिमुखी भविष्यतीति।

अर्थात् यह चार प्रकार के योगी होते हैं जिसमें—

१. प्रथम कल्पिक २. मधु भूमिकाः,

३. प्रज्ञा ज्योति ४. अति क्रान्त भावनीय।

इनमें से नं. १ जिस योगी ने प्रथम अभ्यास शुरू किया है, वह प्रवृत्तमात्र ज्योति कल्पित योगी है। दूसरा जिसको स्फुट प्रज्ञालोक हो चुका है, जिसकी बुद्धि ऋतम्भरा बन गई है वह मधु-भूमिक नाम का योगी है। तीसरा प्रज्ञा ज्योति नाम का वह योगी है, जिसने पंच महाभूतों और इन्द्रियों पर पूर्णरूपेण जय प्राप्त कर ली है। चौथा योगी अतिक्रान्त भावनीय नाम का है, जिसने भावित और भावनीय पर अधिकार प्राप्त कर लिया है एवं कृतकर्तव्य साधना वाला है। इसकी सीमान्त प्रज्ञा सप्तविधि होती है। जिस समय योगी मधुमती भूमिका का साक्षात्कार करता हुआ आगे बढ़ता है तो उसके सत्वोत्कर्ष को देखकर स्थानीय देवता लोग उसका आदर करते हैं और कहते हैं ओह! महात्मन् यहाँ आइये, यहीं निवास कीजिये, यह बहुत ही सुन्दर भोग हैं। कमनीयं अयं कन्या— यह कन्या बहुत सुन्दर है, यह रसायन है जो बुढ़ापे और मौत को पास नहीं आने देती हैं यह आकाशगामी यान है। यह कामना पूर्ण करने वाला कल्पवृक्ष है। यह पवित्र मन्दाकिनी नदी है। इधर यह महर्षि सिद्ध लोग हैं। यह देखो उत्तम मनोनुकूल चलने वाले अप्सरसा लोक हैं। इस लोक में दिव्य श्रोत्र और दिव्य चक्षु हर समय प्राप्त रहते हैं परम सुन्दर एवं वज्र के समान तुम्हारा शरीर है। यह सब कुछ तुमने अपने पुरुषार्थ एवं तप के द्वारा प्राप्त किया है यह अजर-अमर देवताओं के रहने के स्थान हैं। इस प्रकार से प्रार्थना किया जाता हुआ योगी संग-दोषों की भावना करे, और यह सोचे कि संसार के तपे हुए अंगारों से जलते हुए मैंने बार-बार जन्म और मौत के चक्कर में पड़कर बड़ी भारी कठिनता के साथ क्लेश और अन्धकार का नाश करने वाले इस पवित्र योग प्रदीप को प्राप्त किया है, और यह तृष्णा आदि की विषैली वासना की वायु इस योग प्रदीप के बिल्कुल विपरीत और विरोधी है। सो लब्धा लोक में मैं इस विषय मृगतृष्णा के जाल में फंसकर संसार की दहदहाती हुई अग्नि में क्यों अपने आपको ईंधन रूप बनाऊँ। इसलिये अय देवताओं यह सब ही भोग तो स्वप्न रूप हैं। इन भोगों से दीन-हीन लोगों को लुभाया जा सकता है। इन सब भोगों का आप लोग ही सुख भोगें। यह कह करके योगी अपनी समाधि का ही अभ्यास करे और उसके साथ-साथ **'एवमहं देवानामपि प्रार्थनीयो जातः'** इस घोर अहं कार को अपने आप को कालपाश में बंधा हुआ जानकर त्याग दे। यदि योगी थोड़ी सी भी लापरवाही करेगा तो यह क्लेश लब्ध विवर होकर उस योगी पर आरूढ़ हो सकते हैं। इस प्रकार से संगदोष से निवृत्ति हुए योगी को समाधि में दृढ़ता प्राप्त होगी और उत्तरोत्तर अन्तर्मुखता की ओर बढ़ता जायेगा।

इसी प्रकार संगदोष को हटाने के लिए योगियों ने अपना स्थान वनस्थली रक्खा है। यह लोग किसी का सम्पर्क नहीं रखते, सदा सर्वदा असंग रहकर अपने अध्यात्म स्वरूप में विलीन रहा करते हैं। क्योंकि सन्सर्गजा, दोष गुणा भवन्ति' दोष एवं सब प्रकार के गुण संसर्ग से पैदा हुआ करते हैं। ऐसे निर्मल एकान्त सेवी महात्मा ही अपने नित्य चेतन स्वरूप को पाकर निहाल हुआ करते हैं। अन्यथा एक साधारण नियम-सा चलता है। संसार में किसी के पास कोई धन हो जाय तो डाकू लुटेरे उसके पीछे लग जाया करते हैं। इसी ही प्रकार अध्यात्म धन की भी बात है, जिसका आत्मोत्कर्ष ऊँचा हो जाता है प्रतिस्पर्धा वाले उनको हर समय गिराने की चेष्टा करते रहा करते हैं। यह ईर्षा-द्वेष आदि के मल स्वर्गीय देवताओं में भी भरपूर रहते हैं। मनुष्य लोक से कोई भी व्यक्ति अध्यात्म प्रधान होकर आत्मोत्कर्ष की ओर बढ़ता है तो वह देवताओं के लिए असहनीय हो जाता है। वे लोग सोचते हैं कि यह अभी तक हमारा सेवक था और और अब हम से भी ऊँचा बढ़कर हमारे भी स्मामित्व की ओर जा रहा है। इसीलिए उसके रास्ते में अंतरायें पैदा किया करते हैं। हमें इस समय साधकों के साथ बीती हुई एक घटनाओं का स्मरण हो रहा है, जिन के रास्ते में इस प्रकार के अन्तरायें पैदा हुए औ वे अन्तरायों से अभिभूत भी हो गये। योग प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्धगुफा सवांई के अध्यात्म प्रधान कई साधकों के मार्ग में कई प्रकार के अन्तराय पैदा हुए। और उनमें से जो लोग अनन्य गुरुभक्त और निष्ठावान थे एवं विषैले वासना जाल से बचना चाहते थे वे लोग सर्वशक्तिमान प्रभु की कृपा से सुरक्षित रहे— किन्तु

जिन्होंन यत्किंचित अपने मन को इस प्रवाह के अन्दर प्रवाहित नकरना चाहावे अपने आप को नहीं ही सम्भाल सकें।

रमणीगिरि नागा—

आश्रम में नागा संन्यासियों के संम्प्रदाय से रमणीगिरि नाम का एक साधु आया। उसने योग साधना की शिक्षा प्राप्त की, सभी लोक-लोकान्तरों को दिव्य दृष्टि के द्वारा देख लिया करता था। किन्तु बाद में उसकी स्वर्गीय दृश्य देखने की आदत पड़ गई। जब श्रीगुरुदेवजी ने उसको यह दृश्य देखने में मना किया तो उसको प्रलोभनकारी देवताओं ने आश्रम से चल जाने का परामर्श दिया। और उपरोक्त सूत्र के अन्दर जो बातें बतलाई गई हैं उस ही प्रकार के कमनीयमं कन्यादि के लालच भी दिये गये। उसको कहा गया कि तुम यहाँ से हटकर अमुक वन में तप करो तो तुम्हें वहाँ सभी स्वर्गीय भोग प्रत्यक्ष में प्राप्त होगे। वह वहाँ से चला तो गया, स्वर्गीय भोग तो कुछ भी प्राप्त न कर सका किन्त इस लोक के रूप-रंग में फँसकर अपने आपको परम पवित्र अध्यात्म मार्ग से वंचित कर लिया।

योगाभ्यासी ब्रह्मचारी हरिभक्त चैतन्य:

यह ब्रह्मचारी जम्मू-काश्मीर प्रान्त के उत्तम योगाभ्यासी साधक हैं जिस समय यह वहाँ के घोर वनों में घोर तपश्चर्य करते थे तो इनके सामने भी इस प्रकार के अन्तरायें पैदा हुए। देव-कन्यायें आदि को इन्होंने प्रत्यक्ष रूप से देखा। किन्तु यह अपनी अध्यात्मनिष्ठा के बल पर अपने आपको सम्भाल गये एवं अपनी अध्यात्म-निष्ठा को अडिग रक्खा अत: प्रत्येक साधक को चाहिये कि सांसारिक बिषैले जाल से अपने आपको बचायें। जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्ति पायें। इस वासना जाल से दूर रहना ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। आदिनायक भगवान श्रीकृष्ण के इस उद्वेश्य को सामने रखना चाहिये।

निर्मान मोहा जितसंग दोषा,
अध्यान्मनित्या विनिवृत्तकामा।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुख: दु:ख संज्ञै-
र्गच्छत्यमूढ़ा पदमव्ययं तत्।।

अर्थात् जो साधक मान-मोह से परे है एवं संगदोषों पर जिसने काबू पा लिया है, नियमानुसार अध्यात्म-परायण है, कामनाओं के गर्त से निकल गया है, सुख दु:ख संज्ञक द्वन्द्वों से अतीत हो गया, है ऐसे ही लोग अव्यय पद को प्राप्त किया करते हैं।

दिशा-दर्शन

समय बहुत थोड़ा मार्ग दूर है।

मृत्यु निकट आ रही है। हमें अचानक यहाँ से चले आना होगा।

जब तक मृत्यु दूर है और शरीर स्वस्थ है, तब तक आत्मा के कल्याणार्थ प्रत्येक प्रकार से तत्पर हो जाना चाहिये।

मनुष्य-जन्म जीवात्मा के कल्याण का एकमात्र साधन है।

पाप-ताप और रो-शोक की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये विषयों से मुँह मोड़कर साधना-पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहना चाहिये।

जो लोग प्रमाद, आलस्य, निद्रा और भोग में समय को बिताते हैं वे अपने को जान-बूझकर अग्नि में झोंकते हैं।

प्रमाद ही मृत्यु है। समय को व्यर्थ खोना ही प्रमाद है।

सदैव जाग्रत और सावधान रहना चाहिए। सो जाने वाले सदैव कुछ न कुछ खोया ही करते हैं—

— श्रुति सार

अत्यन्त दुर्लभ-मनुष्य जन्म

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमारे उच्चतम ज्ञान विज्ञानवेत्ता प्राय: ऋषि मुनियों ने मनुष्य जन्म की दुर्लभता का बखान किया हैं। सूरदास, कबीरदास, तुलसीदास आदि सन्तों ने भी अपने अनुभव के आधार पर मनुष्य जन्म की दुर्लभता को समझा-समझाकर कहा है, किन्तु मन्द प्रारब्धवश इनकी उच्चतम चेतावनियों को कोई-कोई विरल जन ही समझ पाये हैं। शेष सब तो संसार में मानव देहधारी प्राणी मोहमयी प्रमाद-मदिरा को पीकर उन्मत से ही दिखलाई दे रहे हैं। परम विरक्त योगी श्री भर्तृहरि जी ने संसार के ऐसे लोगों की दशा को देखकर अपने हार्दिक उद्‌गार निम्नांकित श्लोक में अच्छे ढंग से चित्रित किये हैं—

आदित्यस्य गतागततैरहरहः,
संक्षीयते जीवितं
व्यापारैबहु कार्यभार गुरुभिः,
कालो न विज्ञायते।।
ज्ञात्वा जन्म जरा विपत्ति मरणं,
त्रासश्च नोत्पद्यते।
पीत्वा मोहमयीं प्रमाद मदिरां,
उन्मत्त भूतं जगत्।।

अर्थात् नित्य ही सूर्य के निकलने और छिप जाने से आयु का एक-एक क्षण क्षीण होता जा रहा है। व्यापार और कार्यभार की अधिकता से समय का ज्ञान नहीं हो पाता, रोज-रोज मनुष्य जरा ग्रस्त होकर जन्म-मरण की सूचनायें पाता रहता है किन्तु फिर भी उसके मन में कुछ भय उत्पन्न नहीं होता। मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर वह पागल सा बना हुआ घूमता रहता है, किन्तु मानव देह की दुर्लभता की चेतावनी का स्मरण उसे किञ्चित् भी नहीं हो पाता।

मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ क्यों ?

हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है जिसे अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के आठवें आध्याय के पांचवें और छठवें श्लोक में इस प्रकार का निरूपित किया है—

अन्त काले च मामेव,
स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं:,
याति नास्त्यत्र संशयः।।
यं यं पापि स्मरन्भावं,
त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्यतेय,
सदा तद्भाव भावितः।।

अर्थात् अन्तिम समय में मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीर त्यागता है वह मेरे को जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित सिद्धान्त की बात बतला दो कि अन्तिम समय में जिन-जिन भावों का स्मरण करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है उन-उन भावों की प्रेरणा से ही वह मनुष्य वैसी-वैसी गति को प्राप्त हो जाया करता है। इसी सिद्धान्त को लक्ष्य में रख करके भगवान अर्जुन को यह आदेश भी देते है कि —

तस्मात्सर्वेषु कालेषु,
मामनुस्मर युध्य च।

अर्थात् हे अर्जुन! तू हर समय मेरा स्मरण करता हुआ लड़ाई कर। ताकि प्राणविमोक्ष का समय आ भी जाय तो अन्तिम मति के अनुसार तू मुझको पा लेगा।

इस सिद्धांत के अनुसार अन्तिम क्षणों में जिन-जिन भावों का स्मरण करते हुए मनुष्य शरीर छोड़ता है वैसी ही गति को पा जाना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। हमारे प्राचीन इतिहास में उदाहरण रूप से इस प्रकार की अनेक घटनायें भी वर्णित हैं। श्रीमद्‌भागवत् पुराण में महामुनि जड़ भरत का उपाख्यान आता है। यह एक महान तपस्वी योग-ध्यान परायण मुनि थे। उन्होंने आश्रम में एक मृग के बच्चे को पाल लिया, जिसका परिणाम यह निकला कि अन्तिम प्राण प्रयाण के समय उनको उस मृग-बच्चे की याद आती रही। फलस्वरूप वह मृगी के पेट में जा गिरे। इसका कारण अन्तिम समय में मृग बच्चे का चिन्तन ही रहा। इस अवस्था के निराकरण के लिए एवं शुभ गति पाने के लिए अपने मृग-शरीर का परित्याग कर दिया था।

एक और सच्ची घटना—

यह है कि आदरणीय ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी महाराज मेरे बड़े गुरु भाई थे। वे ऊँची स्थिति के महात्मा थे। उनको अपने ध्यान-योग के प्रभाव से अतीतानागत ज्ञान की योग्यता प्राप्त की थी। एक बार उनके मन में विचार आया कि वे अपनी माता की गति को जानें। उनका जन्म कहां हुआ है।

इन्हीं भावों का चिन्तन करते हुए वे ध्यानस्थ हो गये। ध्यानलीन हो जाने के बाद यह अपनी आंखों के सामने देखते हैं कि किसी मछियारे की छोटी लड़की कुछ मछलियाँ हाथ में उठायें आ रही है। ज्यों ही उन्होंने इस बालिका को देखा, त्यों ही ध्यान में आकाशवाणी हुई कि बेटा! यह तेरी मां है इसको देख ले। यह सब दृश्य देखकर श्री ब्रह्मचारी जी को बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि मेरी माता की ऐसी गति क्यों हुई? उन्होंने ध्यानाभ्यास से उठकर अपना यह सब अनुभव प्रत्यक्ष में प्रभुजी के चरणों में निवेदन किया और जानना चाहा कि—

'माता की ऐसी गति क्यों?' श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया कि हमें क्या पता। हो सकता है कि तेरी माता को अन्तिम समय में मछलियों का स्मरण आया हो। इस विषय में तुम अपनी बहन रूक्मिणी देवी से पूछो कि तुम्हारी माता की मृत्यु किस रोग में किस कारण से हुई थी। उससे तुम्हें पता चल जायेगा कि उसका अन्तिम चिंतन क्या रहा था, जिसके कारण इसका जन्म मछियारे के घर में हुआ।

श्री ब्रह्मचारीजी ने अपनी बहन रुक्मिणी देवी से जाकर पूछा कि बहन! माँ की मृत्यु कैसे हुई थी? उसने उत्तर दिया कि भाई! मृत्युकाल में माँ के पेट में बड़ा भारी अफारा (उदाराध्यान) हो गया था, उस रोग के हम लोगों ने बड़े इलाज कराये, किन्तु उनसे किसी भी प्रकार का लाभ नहीं हुआ! अन्त में एक डॉक्टर ने बतलाया कि यदि इनको मछली का तेल पिला दिया जाय तो इनके पेट का तनाव कम होकर जीवन बच सकता है।

डॉक्टर के ऐसे आदेश को पाकर मछली के तेल लाने की काफी कोशिश की गयी, किन्तु सफलता नहीं मिल सकी। वह बार-बार मछली के तेल को याद करती रही एवं उसी चिंतन में उसके प्राण निकल गये। श्री ब्रह्मचारी जी की समझ में आ गया कि बात ठीक ही है।

यं यं वापि स्मरन्भावं, त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय, सदा तद्भाव भावितः।।

हमारा यह मनुष्य लोक रजोगुण प्रधान है। मनुष्य अपना सारा जीवन इधर-उधर के कार्यकलापों में व्यतीत किया करता है शरीर जर्जरीभूत हो जाता है। नाड़ियाँ फूल जाती हैं। प्रायः हर व्यक्ति का अन्तिम समय बहुत दुःख मय होता है। प्राणों के निष्कासन के समय वह केवलमात्र दुःख का ही चिंतन करते हुए देहत्यागा करता है। अन्तिम समय कष्ट होना पाप कर्म का भोग होता है। क्लि संस्कारों के भोग-भोगते हुए क्लेशात्मक चिंत के कारण वह इस मनुष्य शरीर को छोड़कर दुःख देने वाली निकृष्ट योनियों को प्राप्त हो जाता है। यह जो सब की सब भोग योनियाँ होती हैं।

शुभ चिंतन का इन भोग योनियों में मौका ही कहाँ हो सकता है। अतः एक योनि छोड़कर दूसरी-दूसरी से तीसरी तथाआगे भी इसी प्रकार क्रमशः भोग योनियाँ प्राप्त करती रहती है। बहुत कठिनता एवं प्रतीक्षा के बाद पुनः कोई पुण्यफल के उदय का समय होता है तो मनुष्य जन्म मिल जाता है। कैसा मिलेगा, यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मनुष्य जन्म मिल गया, किन्तु मिला किसी हत्यारे के यहाँ शराबी-कबाबी के यहाँ, चोर और डाकुओं के यहाँ तो ऐसे मनुष्य जन्म का भी क्या फायदा। अथवा मनुष्य जन्म प्राप्त कर लेने के बाद कोई रोग लग गया तो भी क्या लाभ? इसलिए उत्तम बात तो यही है—

यावत्स्वथमिंद कलेवरगृहं,
यावच्च दूरे जरा।
यावच्चेन्द्रिय शक्तिरप्रतिहता,
यावत्क्षयो नायुषः।।
आत्मश्रेयसि तावद्देव,
विदुषा कार्य प्रयत्नो-
महान्प्रोदीप्ते भवने च कूप,
खननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।।

अर्थात् जब तक यह शरीर स्वस्थ है और बुढ़ापा दूर है। इन्द्रियों की शक्ति नष्ट नहीं हुई है एवं आयु क्षीण नहीं हुई है, तब तक अपने भले का प्रयत्न कर लेना चाहिये । घर में आग लग जाने के बाद कुआ खोदने का पुरुषार्थ व्यर्थ ही रहता है। अतः मनुष्य लोक में जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने वर्तमान मनुष्य जन्म की दुर्लभता को समझें और जो जितने भी शुभ कर्म वह कर सकता है निरन्तर करता रहे।

मनुष्य जन्म कर्म योनि है। इसमें कर्म किया जा सकता है। अन्य सब भोग योनियाँ हैं जिनमें अपने भविष्य निर्माण के लिये कुछ भी कर्म नहीं किया जा सकता। निश्चय ही यह मानव जीवन एक प्रकार का परीक्षा स्थल है। परीक्षा-पत्र अच्छे हो गये, तो परिणाम शुभ होगा। अन्यथा नहीं।

अतः परीक्षा-पत्रों के सही हल के लिए सदा शुभ कर्मों का सम्पादन ही करते रहना चाहिए।